पं. न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजी
और
म हा पु रा ण

◆

— लेखक —
पू. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

जी व रा ज जै न ग्रं थ मा ला, सो ला पू र .

जानेवारी १९५७]   [किंमत ६ आणे

पं. न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजी
और
महापुराण

◆

— लेखक —

पू. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापूर.

जानेवारी १९५७] [किंमत ६ आणे

प्रकाशक—
ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी
अध्यक्ष—श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापूर.

प्रती ५००

मुद्रक—
फुलचंद हिराचंद शाह
श्री वर्धमान छापखाना
१३५, शुक्रवारपेठ, सोलापूर.

प्रास्ताविक

सन १९५४ मे मैने साहित्याचार्य पंडित पन्नालालजी द्वारा संपादित भारतीय ज्ञानपीठ काशी से ' महापुराण ' प्रथम भाग प्रसिद्ध हुवा था, उसके संबंधमें एक लेख ' स्वदेश ' पत्रमें प्रसिद्ध किया था। जिसके प्रत्युत्तरमे साहित्याचार्यजीने ' मैने कुछ शब्द या वाक्य उनके नहीं थे, वे उनके है ऐसा दिखानेका प्रयत्न किया। ' ऐसा मेरेपर आक्षेप किया था, और वह सत्यही था। मेरी मातृभाषा मराठी होनेसे वह लेख मैने मराठीमेही लिखा था। हिंदी मेरी मातृभाषा न होनेसे वह सुसंस्कृत शब्दोंमें मै लिख नहीं सकता था। इस आपत्तिके भयसे उसका अनुवाद एक अच्छे विद्वानोसे करवाकर प्रसिद्ध किया। किंतु अनुवादकके समझसे मराठी वाक्योंका आशय कुछ विपरीत समझमें आनेसे वह गलती होगई है। मेरे मराठी अनुवादमे वे शब्द साहित्याचार्यके है ऐसा लिखा नहीं था। कुछभी हो, मै मेरी भूल कबूल करके उनकी क्षमा मागता हूं। मैं किसीपर झूट आरोपण करके उनकी महत्ता कम करना पाप समझता हूं। मेरी योग्यता साहित्याचार्यके ज्ञानके तुलनामे अंशमात्रभी नहीं है यह मैं जानता हूं। केवल महापुराणके विषयमें उनके मतांतरको दिखाना यह मेरा हेतु था। यह जानकर साहित्याचार्य मुझपर क्षमा करेंगे ऐसी आशा रखता हूं।

वह भूल इस लेखमें न हो पावे इस लिये न्यायाचार्यजीके अवतरण जैसेके वैसेही देनेकी सावधानता रखी गई है। और दूसरेसे अनुवाद करानेकीभी मनीषा छोडकर असंस्कारित भाषामें मैने अपना अभिप्राय प्रगट करनेका प्रयत्न किया है। सो पंडितजन और सर्व सामान्य हिन्दी भाषाविज्ञ लोक मेरी भाषा विषयक अज्ञानताके तरफ ध्यान न देते हुये उसका अभिप्राय जान लेनेका प्रयत्न करें ऐसी प्रार्थना है।

पंडितवर न्यायाचार्य महेंद्रकुमारजीने उपर्युक्त महापुराणके प्रास्ताविक रूपसे जो लिखा है, उस संबंधमें विचार करते दो वर्ष हो चुके। दो चार बखत लिख कर छोड दिया। फिरभी मेरे लिखाणका मुझे विश्वास नहीं हुवा। आजकल दिगंबर जैनियोंमें जो दो चार प्रसिद्ध विद्वान् हैं उनमें न्यायाचार्यजीके समान न्याय और तर्कके विषयमें गाढ बिचारकर षड्दर्शनकारोंके सर्व मतोंसे जैनधर्मकी तुलना करके वह न्यायदृष्टिसे कितना श्रेष्ठ है यह बतानेवाला और उसका साहित्यरूपमें प्रकाशन करनेवाला कोईभी विद्वान् देखनेमें आता नहीं। आजकल साहित्यकी इतनी वृद्धि हो रही है कि, उसमें जैन दर्शनका महत्त्व प्रगट करनेवाले साहित्यकी अत्यंत जरूरत है। इस दृष्टिसे उनके कार्यका मोल होही न सकता। इतना ऊंचा कार्य आज उन्होंने किया है। इस लिये दिगंबर समाज उनका अत्यंत ऋणी है।

ऐसे महान् धुरंधर विद्वानके संबंधमें महापुराण जैसे प्राचीन आर्षग्रंथसंबंधी उन्होंने प्रगट किये विचारसे मतभेद मेरे सरीखे यःकश्चित् अज्ञानी जीवने प्रगट करना अत्यंत साहस है। इसलिये दो वर्षतक मैं अपने विचार प्रगट करनेमें डर रहा था। आखिर मेरा लिखाण एक दो विद्वानोंको दिखानेसे उसमें आगमविरुद्ध कोई बात नहीं है ऐसा विश्वास मिलनेसे यह प्रगट करनेका साहस किया है।

इसके पहले मेरा लेख श्री न्यायाचार्यकी तरफभी देखनेके लिये भेजकर उसपर उनका कुछ प्रतिवाद लिख भेज देवे तो वहभी इस लेखके साथ प्रकाशित करनेकी प्रार्थना की गई थी। लेकिन् वह प्रार्थना न्यायाचार्यजीने अमान्य कर दी।

यह न्यायाचार्यजीने महापुराणसे जाति और अस्पृश्यताके संबंधमेंही जो लिखा है उससे मतभेद है। श्री जिनसेनाचार्यजीने मनुस्मृति इत्यादि वैदिक ग्रंथोंके प्रभावसे जैन आचारपरंपरामें उसी ढंगकी क्रिया और संस्कार पीछेसे रचे यह भाव महापुराणसे निकलता है या नहीं यही मतभेदका

कारण है । इसी दृष्टिसे यह लेख लिखा है । यद्यपि ऐसे शास्त्रीय विवादस्थ मुद्देपर मेरे सरीखे यःकश्चित् अज्ञान जीवने लिखना अप्रशस्त है यह जानते हुयेभी मैने जो साहस किया है उसका कारण, आज हजारों नहीं लाखों दिगंबर जैन केवल आगमश्रद्धापर संघटित हुवे अनुभवमें आ रहें हैं । उनमेंसे कितने जीव धर्मशास्त्र या नित्यक्रिया जाननेवाले होंगे? एक आगमश्रद्धापर जैनधर्म विशालरूपसे आजतक जीवित रहा है । उन लाखों जीवकी आगमश्रद्धापर न्यायाचार्यजीके लेखसे बडी गहन ठेंस लगना संभव है । और उन सभी जीवोंका भाव मेरे जरियेसे इस लेखमें प्रगट हो रहा है । इसलिये मेरी विद्वत्ता या आगमज्ञानके तरफ ध्यान देनेकी जरूरी नहीं है ।

न्यायाचार्यजी मेरे लेखके उत्तरमें लिखते हैं:—

ता. १०–११–५६, बनारस ४

" आपका लेख मिला । .... मेरे और आपके विचारोमें दृष्टिकोणका स्पष्ट भेद है और वह असमाहितही रहेगा । इसको पढनेके बाद मुझे अपने विचार या लिखाणमे कोई परिवर्तनका प्रसंग नहीं आया । .... मेरे ऊपर गाधीजीका प्रभाव है इसमें इनकार नहीं कर सकता । और विद्वच्छिरोमणि पं. सुखलालजीके विचारोंको मैं आदरसे देखता हूं । यहभी एक हदतक ठीक है । "

उपर्युक्तपत्रसे उनके हमारे दृष्टिकोणमें फरक है यह सत्य है । और वहभी उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता तो सामान्य लोकभी उसपर विचार कर सकते हैं । अस्तु

मैने " जैनदर्शन " आपका ग्रंथ ध्यानपूर्वक पढनेका प्रयत्न किया। उसमें आपने छह मतोंका अत्यंत सूक्ष्मदृष्टिसे विचार कर उनकी एकांतता स्पष्ट कर दी है । धर्मदृष्टिसे देखनेपर म. गांधीके तत्वका जैन तत्वोंके साथ क्या संबंध पहुंचता है यह हमारे ध्यानमें आया नहीं । म. गांधी ईश्वर-

वादी होते हुयेभी अहिंसा प्रतिपादन करते है । उनकी अहिंसा निरपवाद नहीं । जैन अहिंसाके सदृश तो है ही नही ।

स्याद्वाददृष्टिसे वे एकांती ठहरते है । ऐसे पुरुषके प्रभावमे श्री न्यायाचार्यजी कैसे आगये ? इसका आश्चर्य हो रहा है ।

न्यायाचार्यजी 'सर्वज्ञ' मानते है और उसका समर्थन जैनदर्शनके 'प्रत्यक्ष प्रमाण मीमासा' शीर्षक लेखमे किया है वैसे आगम प्रमाण सबंधमेंही 'आगम प्रमाण मीमासा' प्रकरणमे स्पष्टतया वह प्रमाण मानना स्वीकार किया है । ऐसी अवस्थामे जो सर्वज्ञ और आगमप्रमाणभी मानते नहीं ऐसे महात्माका प्रभाव जब सूक्ष्मविवेचक पंडितोंपर पडता है तो सामान्य जनता उनके प्रभावमे बहती चली जाय यह आश्चर्य नहीं ।

जैनियोंके प्रथम न्यायशास्त्रके प्रस्थापक श्रीसमंतभद्राचार्यने जो सम्यक्त्वका लक्षण

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥

किया है । तरवारके धार समान जिनकी श्रद्धा अचल है वही सम्यग्दृष्टि होता है और उसके प्रमाणके लिये रेवतीराणीका दृष्टांत दिया है । इस लक्षणको उपर्युक्त विवेचनसे बाधा आती है । न्यायाचार्यजी श्रीसमंतभद्राचार्यपर अपनी निष्ठा रखते हुयेभी म. गांधीके प्रभावमे आगये इससे उनकी श्रद्धा द्विधा हो गई । इसलिये उनके अनुयायी वर्गोंके लिये सम्यग्दर्शनका स्वरूप अलगही बनाना पडेगा । और उस विचारके लोगोंकी संख्या दिनप्रति दिन बढ जानेसे आगमश्रद्धाका लोप भविष्यत्‌कालमे अवश्य होनेकी संभावना है ।

आजसे सौ दोसौ वर्षके बाद महापुराण सरीखे ग्रंथका अभाव हो जायगा । जैसे श्रीजिनसेनस्वामीने कवि परमेश्वरके आधारसे अपने ग्रंथकी रचना की । किंतु वह ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं । ऐसी अवस्थामे आधुनिक

सूक्ष्मविचारक न्यायाचार्यजीके ग्रंथही प्रमाण माने जायेंगे। और आगम प्रमाण मानना भूल जायेंगे। ऐसी आपत्ति आनेका संभव है । अस्तु ।

आजकल साहित्यशास्त्र खूब बढ रहा है । हर एक दार्शनिक अपने मतोंका विवरण कर साहित्यको बढा रहा है । इसीलिये दिगंबर मतवाले पंडितोंकाभी खंडन मंडन दृष्टिसे नहीं किन्तु साहित्यसंभारमें जो आगमविरुद्ध लिखाण हो रहा है उसके जबाबमें जैन आगमका दृष्टिकोणभी साहित्यमें आना जरूर है । जिससे भविष्यकालीन अनेक निष्पक्ष साहित्यका विचार करनेवाले विद्वानोंके सामने दोनो तरफका पक्ष देखकर अपना विचार प्रगट करनेका साधन मिले । इस दृष्टिसे दिगंबर जैन पंडित बहुतही उदासीन हैं यह साहित्यके दृष्टिसे बडी भारी हानि हो रही है । इसलिये इस लेखमें उनकी दृष्टि जाय तो ठीक होगा ।

सोलापुर
३-१२-१९५६

—ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजी और महापुराण
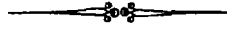
पूर्वपीठिका

ज्ञानपीठसे प्रकाशित श्रीमज्जिनसेनाचार्यकृत महापुराणके पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य-संशोधित और सम्पादित संस्करणमें श्री. महेन्द्र-कुमारजीने जो प्रास्ताविक लेखमें इस प्रकार लिखा है।

" सम्पादक महाशयने बारह प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त कर पाठोंका संशोधन किया है। टिप्पणीके कुछ श्लोक मूल ग्रंथमें शामिल हो जानेसे ग्रंथकारका समय निर्णय करनेसे अनेक भ्रांतिया आजाती हैं। उदा-हरणार्थ —

दुःखं संसारिणः स्कंधाः ते च पंच प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना-संज्ञा-संस्कारो रूपमेव च ॥ ४२
पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पंच मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥ ४३
समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः।
स चात्मात्मीयभावाख्यः समुदायसमाहितः ॥ ४४
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना मता।
सन्मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥ ४५

ये श्लोक पांचवे पर्वके हैं। ये दिल्लीकी प्रतिमें पाये जाते हैं। मुद्रित प्रतिमें दुःखं संसारिणस्कंधाः ते च पंचप्रकीर्तिताः इस आधे श्लोक को छोड-कर शेष ३॥ श्लोक ४२ से ४५ नंबर पर मुद्रित हैं। बाकी सात ताडपत्रीय और कागजकी प्रतियोंमें ये श्लोक नहीं पाये जाते हैं।

" मैने न्यायकुमुदचंद्र द्वितीय भागकी प्रस्तावना (पृष्ठ ३८) में हरिभद्र सूरि और प्रभाचंद्रकी तुलना करते हुये लिखा था कि ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे **ये ही श्लोक किंचित् शब्द भेदके साथ** जिनसेनके आदि पुराण (पर्व ५ श्लोक ४२-४५) में विद्यमान हैं। रचनासे ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाये होंगे और उसी बौद्धग्रंथसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुंचे होंगे। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं; अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रसे होकर आदिपुराणमें आये हैं तो इसे उस समयके असांप्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिये। "......

इस दृष्टिसे प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे प्रत्येक ग्रंथका मिलान करना नितान्त आवश्यक सिद्ध हो जाता है। इसी तरह पर्व १६ श्लोक १८६ से आगे निम्न लिखित श्लोक:—

सालिको मालिकश्चैव कुंभकारस्तिलन्तुदः। नापितश्चेति पंचामी भवंति स्पृश्यकारुकाः ॥ रजकस्तक्षकश्चैवायस्कारो लोहकारकः। स्वर्णकारश्च पंचैते भवंत्यस्पृश्यकारकाः ॥ प्रतिमें और लिखे मिलते हैं। ये श्लोक स्पष्टतः किसी अन्य ग्रंथसे टिप्पणी आदिमें लिये गये होंगे, क्योंकि जैनपरंपरासे इनका कोई मेल नहीं है। मराठी टीकासहीत मुद्रित महापुराणमे ये दोनो श्लोक मराठी अनुवादके साथ लिखे हुए हैं।

इसी तरह संभव है कि—इसके पहलेका शूद्रोंके स्पृश्य और अस्पृश्य भेद बतानेवाला—

कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः।
तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः ॥ १८६

यह श्लोकभी किसी समय प्रतियोंमें शामिल हो गया हो। क्योंकि इस प्रकारके विचारोंका जैन संस्कृतिसे कोई संबंध नहीं है।

इसके आगे 'ग्रंथकी प्रकृति' शीर्षकमें वे लिखते हैं— "स्वामी जिनसेनके युगमें दक्षिण देशमें जैनधर्म और ब्राह्मण धर्ममें जो भीषण संघर्ष रहा है वह इतिहासप्रसिद्ध है। आ. जिनसेनसे भगवान् महावीरकी उदारतम संस्कृतिसे न भूलते हुये ब्राह्मण क्रियाकाण्डको जैनीकरणका सामयिक प्रयास किया था।

मनुस्मृतीमें गर्भसे लेकर मरणपर्यंतकी जिन गर्भाधनादि क्रियाओंका वर्णन मिलता है, आदिपुराणमें करीब करीब उन्ही क्रियाओंका जैन संस्करण हुवा है।......आदिपुराणकारने ब्राह्मणवर्णका जैनीकरण किया है।...

उन्होंने ब्राह्मणत्वका आधार केवल 'व्रतसंस्कार' ही माना।...... महाराजा श्रीवृषभदेव स्थापित क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें जो व्रतधारी थे और जिन्होंने जीवरक्षाकीभावनासे हरे अंकुरोंको कुचलते हुये जाना अनुचित समझा उन्हें भरत चक्रवर्तीने ब्राह्मण वर्णका बनाया।......

भरत चक्रवर्तीने तप और श्रुतकोही ब्राह्मणजातिका मुख्य संस्कार बताया। इसके बाद और उनको गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओंका उपदेश दिया। और बताया कि इन द्विजन्मा अर्थात् ब्राह्मणोंको इन गर्भाधान आदि निर्वाणपर्यंत गर्भान्वय क्रियाओंका अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा कहकर अवतारादि ४८ दीक्षान्वय क्रियाएँ बतलाई।

इन दीक्षान्वय क्रियाओंमें किसीभी मिथ्यात्वी भव्यको अहिंसादि व्रतोंके संस्कारसे द्विज-ब्राह्मण बनाया है। और उसे उसी शरीरसे **मुनिदीक्षा** तक विधान किया है। इसमें कहीं भी यह नहीं लिखा कि उनका जन्म या शरीर कैसा होना चाहिये? यह अजैनोंको जैन बनाना और उसे व्रतसंस्कारसे ब्राह्मण बनानेकी विधि सिद्ध करती है कि जैन परंपरामें '**वर्णलाभ**' क्रिया, गुण और कर्मके अनुसार है। जन्मके अनुसार नही। इसकी एकही शर्त है कि उसे भव्य होना चाहिये और उसकी प्रवृत्ति सन्मार्गके ग्रहणकी होनी चाहिये। इतनाही जैनदीक्षाके लिये पर्याप्त है।"

इसके आगे कर्त्रन्वय क्रियावर्णन करते समय सज्जातित्व आदि सात परमस्थानोंका स्वरूप बताते समय लिखा है कि—

" सज्जातित्वकी प्राप्ति आसन्नभव्यको मनुष्यजन्मके लाभसे होती है। वह ऐसे कुलमें जन्म लेता है ! जिसमे दीक्षाकी परंपरा चलती आई है। पिता और माताका कुल और जाति शुद्ध होती है। अर्थात् उसमें व्यभिचारादि दोष नही होते। दोनोंमें सदाचारका वर्तन रहता है। इस कारण सहजही उसके विकासके साधन जुट जाते हैं यह सज्जन्म आर्यावर्तमें विशेष रूपसे सुलभ है। अर्थात् यहांके कुटुम्बोमें सदाचारकी परंपरा रहती है।

दूसरी सज्जाति संस्कारके द्वारा प्राप्त होती है। वह धर्मसंस्कार व्रतसंस्कारको प्राप्त होकर मंत्रपूर्वक व्रतचिह्नको धारण करता है। इस तरह विना योनिजन्मके सद्गुणोंको धारण करनेसे वह सज्जातिभाक् होता है। "

ऐसा सविस्तर वर्णन करके संक्षेपमें सार दिया है सो इस प्रकारका है:—

" १ वर्णव्यवस्था राजा ऋषभदेवने अपनी राज्यव्यवस्थामें की थी। उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीनही वर्ण गुण–कर्मानुसार आजीविकाके आधारसे स्थापित किये थे। यह उस समयकी समाजव्यवस्था थी, धर्मव्यवस्था नहीं। जब उन्हे केवलज्ञान हो गया तब उनने इस समाज या राज्यव्यवस्थाके संबंधमें कोई उपदेश नहीं दिया।

२ भरतचक्रवर्तीने राज्यव्यवस्थामेंही इस व्यवस्थामें संशोधन किया। उनने इन्ही तीन वर्णोंमेंसे अणुव्रतधारियोंका सन्मान करनेके विचारसे चतुर्थ ' ब्राह्मण ' वर्णकी व्यवस्था की। इसमें व्रतसंस्कारसे किसीकोभी ब्राह्मण बननेका मार्ग खुला हुवा है।

३ दीक्षान्वयक्रियामें आई हुयी दीक्षाक्रिया मिथ्यात्वदूषित भव्यको सन्मार्ग ग्रहण करनेके लिये है। इससे किसीभी अजैनको जैनधर्मकी दीक्षा दी जाती है। उसकी शर्त एकही है कि वह भव्य हो और सन्मार्ग ग्रहण करना चाहता हो।

४ दीक्षान्वय क्रियामें आई हुयी वर्णलाभ क्रिया अजैनको जैन बनानेके बाद समान आजीविकावाले वर्णमें मिला देनेके लिये है इससे उसको नया वर्ण दिया जाता है। और उस वर्णके समस्त अधिकार उसे प्राप्त होते हैं।

५ इन गर्भान्वय आदि क्रियाओंका उपदेशभी भरतचक्रवर्तीने राज्यव्यवस्थामें दिया है। जो कि एक प्रकारकी समाजव्यवस्थाको दृढ बनानेके लिये थी।"

इसका संक्षेपमें ऐसा उत्तर दिया जा सकता है :—

उपर्युक्त निष्कर्षोंका संक्षेपमें खण्डन

१ कल्पवृक्ष नष्ट होनेसे प्रजा भूखी मरने लगी तभी और कर्मभूमीका प्रारंभ था उस समय पृथ्वीपर धान्य आदि सामग्री स्वयमेव उत्पन्न हुई थी, उससे आजीविका करनेके लिये श्रीऋषभदेवने षट्कर्मका उपदेश दिया और उनके जीवनका मार्ग बतला दिया, उसी वखत तीन वर्णोंकीभी उनके गुणानुसार स्थापना की थी। वर्णस्थापना भगवानने अवधिज्ञानसे प्रजाके गुण जानकर उनके तीन विभाग कर दिये। वह केवल समाजव्यवस्थाही नहीं थी। साथ साथ धर्मव्यवस्थाकाभी उपदेश दिया था। भगवानको विदेहक्षेत्रके समान यहांकी व्यवस्था करनी थी। जब वह सदैव कर्मभूमि है और उनके व्यवहार सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक सभी चल रहे हैं तब यहांभी वैसीही सर्व व्यवस्था प्रारंभसेही करना अवश्य है। समाजव्यवस्था या राज्यव्यवस्थाही थी, धर्मव्यवस्था नही थी यह कहना मिथ्या है। स्वयं भगवन्तने अपने पुत्रपुत्रियोंपर सर्व संस्कार किये थे ऐसा पुराणकार लिखते है। इससे धर्मव्यवस्थाभी भगवानने की थी ऐसा स्पष्ट होता है। भगवानके दिव्यध्वनिमें सर्वप्रकारकी विद्या मंत्रतंत्रादि शास्त्रोंका उल्लेख मिलता है। उनकी विधि और फलभी बतलाया गया है वहां कहींपरभी कर्मभूमीके प्रारंभमें भगवानने केवल पहिले समाजव्यवस्था की, धर्मव्यवस्था पश्चात् की ऐसा उल्लेख नहीं। जब भगवानने राज्यावस्थामेंही समाजव्यवस्थाका उपदेश दिया तब धर्मव्यवस्थाका उपदेश कब दिया। भगवानको केवलज्ञान होनेपर

उसका उपदेश दिया गया ऐसा माना जाय तो उनके भरतादिक पुत्र वगैरे सभी वहांतक धर्मज्ञानसे अलिप्त रहे ऐसा मानना पडेगा। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यहा मुद्दा विचारणीय नहीं।

२ दूसरा मुद्दा वैसेही अविचारणीय है। तीन वर्णोंमेंसे जो व्रतधारी थे उनका सन्मान करके भरतनें ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की यह कहना मिथ्या है। भरतचक्रवर्ती अणुव्रती पुरुषोंका सन्मान करता है और श्रुतोपासकाध्ययन धर्मसूत्रके अनुसार उनके विशिष्ट आचरण स्थिर रहनेके लिये उपदेश देता है। वह सोलहवा मनु होनेसे और ब्रह्मर्षि होनेसे उसको धर्मशास्त्रका पूर्ण ज्ञान था इसलिये उसको चतुर्थवर्णकी स्थापना करनेका अधिकार था। इस विषयमें राज्यव्यवस्थामें रहकर भगवानके धर्मसूत्रानुसार उपदेश देनेमें कोई बाधा उपस्थित नही होती। फिरभी भगवान और श्रीभरतचक्रवर्ती इन दोनोंनेही राज्यव्यवस्थामें रहते हुयेही यह समाजव्यवस्था की वह धर्मव्यवस्था नहीं थी यह दिखानेका क्या प्रयोजन है? विशेषतः **व्रतसंस्कारसे किसीकोभी ब्राह्मण बननेका मार्ग खुला हुवा है।** यह लिखना आगम विरुद्ध है।

३ तीसरे मुद्देमें कुछ तथ्य नहीं। दीक्षान्वय क्रियासे किसीभी अजैनको जैनधर्मकी दीक्षा केवल एकही शर्तपर जो कि भव्य हो और सन्मार्ग ग्रहण करना चाहता हो, दी जाती है, यह कहना असत्य है। भव्यत्व जो कि आत्मनिष्ठ गुण है उसका ज्ञान किसीकोभी होना अशक्य है। केवल सन्मार्ग ग्रहण करनेकी इच्छा मात्रसे इतर गुणोंका अधिष्ठान दीक्षार्ह पुरुष हो जाता है यह कल्पना अतिरंजित है।

४ चौथा मुद्दा—वर्णलाभ क्रिया करनेबाद उसको समान आजीविका करनेवाले वर्णमें (समूहमें-जातिमें) मिलाकर उनके अधिकार देनेके लिये है। इसपरसे समान आजीविका करनेवाला एक अलग समूह माना जाता है। ऐसा स्पष्ट है। फिर जाति न मानना यह कैसा सिद्ध होता है। जब अलग

अलग आजीविका करनेवाले वर्ग समाजमें उपस्थित हैं, उनका खानपानादि व्यवहार भगवानके आज्ञानुसार अहिंसा तत्त्वपर अधिष्ठित भक्ष्याभक्ष्यका विचार कर कोई वर्ण (वर्ग-समूह-जाति) करता हो तो वह बिना विचार-उसके व्रतकी स्थिरता और आचारकी खातिर हुये बिना एकाएक अपने वर्णमें शामिल कर नहीं सकता। फिरभी वह द्विजही होना चाहिये। द्विज वर्णमें परंपरासे सदाचार प्रवृत्ति बनी रहती है। इस हेतुसे द्विजवर्णमेंही वर्णलाभ क्रिया कही है।

५ पांचवा मुद्दा गर्भान्वियादि क्रियाओंका उपदेश भरत चक्रवर्तीने राज्य व्यवस्थामेंही दिया और वह समाजव्यवस्था दृढ करनेके लियेही था। राज्यव्यवस्थामें दिया हुवा उपदेश केवल समाजव्यवस्थाके लिये होता है। ऐसा नियम नहीं। समाजव्यवस्था और धर्मव्यवस्थामें भेद मानना मिथ्या है। दोनोंभी परस्परावलंबी है।

उपर्युक्त पांच मुद्दोंका संक्षेपमें उत्तर दिया है। विस्तारसे आगे लिखेंगे। न्यायाचार्यजीने जो अपना वक्तव्य प्रारंभमें देकर उसपरसे जो पांच मुद्दे निकाले हैं वे उस वक्तव्यसे निकलते नहीं। उन्होंने अपना मत (जाति-विच्छेद और स्पर्शास्पर्श विच्छेद) प्रस्थापित करनेके लियेही प्रारंभसेही महापुराण ग्रंथमें जो स्पर्शास्पर्श विचारका वर्णन है वे श्लोक मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रंथोंमेंसे लेकर कुछ शब्द फेरफार करके इस ग्रंथमें शामिल किये हैं। ऐसा साबित करनेका प्रयत्न किया है। वाचकवर्ग उनका वक्तव्य देखकर उसका स्वतंत्र विचार करे इसलिये वह वक्तव्य पूरा दिया गया है। इसके अलावा आदिपुराणके ३८।३९।४० ये तीन पर्व शांतचित्तसे पक्षपात छोडकर मनन करके अपना विचार बनावे।

अयथार्थ और अधूरा अवतरण

न्यायाचार्यजी अपने प्रास्ताविक लेखके १० वें पृष्ठपर कर्त्रन्वय क्रियाका सारांश देते समय जो उसका अनुवाद देते हैं वह भी यथाश्लोक पूर्ण नहीं।

कुछ श्लोकोंका अनुवाद देकर बीचमेंही अपने मत समर्थनार्थ कुछ पंक्तिया देते हैं। वह अभिप्राय प्रदर्शित करनेवाले श्लोक मूल ग्रंथमें नहीं। मूल श्लोकके अनुवादके साथ वह पंक्तिया जोड देनेसे वाचकोंको वह आचार्यहीका मत है ऐसा भास होता है।

पुराणकारोंने कर्त्रन्वयक्रिया कहनेके लिये ८१ वे श्लोकसे प्रारंभ किया है। उसमें सप्त परमस्थान जो कि सज्जातित्व सद्गृहित्वादि जैनधर्म धारण करनेवाले पुरुषको प्राप्त होते हैं। उसमेंसे लेखकको केवल 'सज्जातित्व' क्रियाकाही विचार करना है। उसका उद्देश यह 'सज्जातित्व' शूद्रमेंभी होता है यह सिद्ध करना है। इसीलिये उसी क्रियाके श्लोकका बडे प्रेमके साथ हिंदी अनुवाद सहित सविस्तर देनेका श्रम उठाकर उसी पर्वके ८३ वे श्लोकसे ८७ श्लोकका अर्थ दिया है। उस श्लोकका प्रारंभ ऊपरके अवतरणमें 'सज्जातित्वकी प्राप्ति' इस वाक्यसे प्रारंभ करके 'यहांके कुटुंबमें सदाचारकी परंपरा रहती है। यहांतक श्लोकानुसार अर्थ दिया है। इसके आगे 'दूसरी सज्जाति संस्कार द्वारा प्राप्त होती है। यह धर्मसंस्कार व्रत-संस्कारको प्राप्त होकर मंत्रपूर्वक व्रतचिह्नोंको धारण करता है। इस तरह विना **योनिजन्मके सद्गुणोंको धारण करनेसे वह सज्जातिभाक् होता** है।' ऐसा लिखा है उसके आधारके श्लोक कहां है? इसके आगेके श्लोक ८८ का अर्थ साहित्याचार्य पं. पन्नालालजी अनुवादमें ऐसा लिखते हैं—

'यह सज्जाति **उत्तम शरीरके जन्मसेही** वर्णन की गई है। क्योंकि पुरुषोंको समस्त इष्ट पदार्थोंको सिद्धिका मूल कारण यही सज्जाति है।'

इसमें उत्तम शरीरका क्या अर्थ होगा इसका वाचक विचार करें। उत्तम शरीर याने जिस वर्ण-समूह या जातिमें पुनर्विवाहादि रिवाज नहीं उसी कुलमें उत्पन्न हुये शरीरही उत्तम शरीर कहलाता है। यह अर्थ न माननेसे उत्तम विशेषण व्यर्थही होता है। सभी मानवोंका शरीर सप्तधातु-ओंसेही बना हुवा है। उसमें उत्तमता या कनिष्ठता क्या है।' कुछभी नहीं।

इसीलिये उत्तम शब्दसे अव्यभिचरित जातिसे उत्पन्न हुये जीवकीही उत्तम जाति होती है यह स्पष्ट होता है। यह जानकरही शास्त्राकारोंने इष्ट पदार्थ-सिद्धिका कारण सज्जातित्वको माना है। उसको गौण मानकर लेखक बिना योनिजन्मके सद्गुणोंको धारण करनेसे वह सज्जातिभाक् होता है ऐसा कहते हैं। उत्तम शरीर याने शुद्धकुलकी अवश्यकताको वे गौण मानते हैं।

यह अर्थ श्लोकमेंसे निकलता नहीं तोभी लेखकने अवतरणमें डालकर वह आचार्योंका है ऐसा भास उत्पन्न किया है।

समाजव्यवस्थासे धर्मव्यवस्था भिन्न नहीं

लेखकने श्री आदिभगवानने तीन वर्णकी व्यवस्था गुणकर्मानुसार उपजीविकाके आधारपर की वह राज्यव्यवस्था और समाजव्यवस्था थी, वह धर्मव्यवस्था नहीं थी, ऐसा पहिले विषयमें लिखा है। सो क्या ये दो अव-स्थाएं सर्वथा पृथक् रह सकती हैं। यदि भिन्न रहती हो तो उस धर्म-व्यवस्थाका क्या स्वरूप रहेगा? धर्म समाजको छोड कहाँपर रह सकता है? धर्मकी उत्पत्ति और वृद्धि समाजको छोडकर अन्य किस स्थानमें होगी? पंचमहापातकोंका अंशतः त्याग गृहस्थाश्रममें और परिपूर्ण त्याग मुनिधर्ममेंही होता है। संपूर्ण त्यागकी प्रवृत्ति वैराग्यवृत्तिसे उत्पन्न होती है तभी मुनिधर्म पाला जाता है। पंचमहापातकोंके अंशत्यागमें तथा पूर्णांश त्यागमेंही सर्व नीतिनियमोंका अंतर्भाव होता है। इसके अलावा समाजव्यवस्थाके नीति-नियमोंका दूसरा कौनसा आधार है कि जिससे समाजव्यवस्था अलग मानी जाय?

युगारंभमें धर्मप्रवृत्ति थी या नहीं ?

कल्पवृक्ष नष्ट हो जानेपर प्रजा क्षुधादिकोंसे पीडित होकर भगवन्तके पास आई उस समय उनके दुःखनिवारणार्थ भगवानने मनमें ऐसा विचार किया:—[१]

" पूर्व और पश्चिम विदेहक्षेत्रमें जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँपर प्रवृत्त करने योग्य है। उसीसे प्रजा जीवित रह सकती है।

वहां जिस प्रकार असि, मषी, कृषी आदि छह कर्म है; जैसी क्षत्रिय आदि वर्णोंकी और वर्णाश्रमकी स्थिति है और जैसी ग्रामघर आदिकी पृथक् पृथक् रचना है उसी प्रकार यहांपर होनी चाहिये। इन्ही उपायोंसे प्राणियोंकी आजीविका चल सकती है। आजीविकाके लिये और कोई उपाय नहीं है। ऐसा सोचकर भगवानने मनमें इंद्रका स्मरण करतेही वह देवोंके साथ आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभागकर प्रजाके जीविकाके उपाय किये। इंद्रने प्रथमही मांगलिक कार्य किया। और फिर उसी अयोध्यापुरीके बीचमें जिनमंदिरकी रचना की। इसके बाद चारों दिशावोंमेंभी यथाक्रम जिन-

---

१ :– पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता। साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥ १४३ ॥ षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः। यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः ॥ १४४ ॥ तथा त्राप्युचिता वृत्तिरूपायैरेभिरंगिनां। नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥१४५॥ कर्मभूरद्यजातेयं व्यतीतौ कल्पभूरुहां। ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥ १४६ ॥ इत्याकलय्य तत्क्षेमवृत्त्युपायं क्षणं विभुः। मुहुरान्श्वासयामास मा भैष्टेति तदा प्रजाः ॥ १४७ ॥ अथानुध्यानमात्रेण विभोः शक्रः सहामरैः। प्राप्तस्तज्जीवनोपायानित्यकार्षीद्विभागतः ॥ १४८ ॥ शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये। स्वोच्चस्थेषु गृहेषूच्चैः आनुकूल्ये जगद्गुरोः ॥ १४९ ॥ कृतप्रथममाङ्गल्ये सुरेन्द्रो जिनमन्दिरम्। न्यवेशयत् पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥ १५० ॥

मंदिरकी रचना की। अनंतर कौशलादि महादेश, नगर, वन, सीमासहित गाँव, गाँव, खेट आदिकोंकी रचना की। और प्रभुकी आज्ञा कर अपने स्थानपर निकल गया। ”

उपर्युक्त १४३ से १५० तक श्लोकोंका जो अर्थ लिखा है उसमें इंद्रने प्रथम आयोध्याके बीचमें जिनमंदिरकी स्थापना की। अर्थात् मंदिर स्थापनाके बाद उसमें मूर्तिकी स्थापना करना अवश्यही पडा। और जब मूर्तिकी स्थापना हो चुकी तो उसके प्रक्षालपूजनके विधिकी अवश्यकता उत्पन्न होती ही है। तो उसकी विधि आदि भगवंतने बताई ही होगी अन्यथा मंदिर बनानेका परिश्रम विफल होगा। इस क्रियासे समाजमें धर्म प्रवृत्ति थी ऐसा स्पष्ट होता है।

पहले आजीविकाका उपाय[1]

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्य प्रजाके आजीविकाके कारण हैं। भगवानने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे उन्ही छह

---

१ :– असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥ १७९ ॥ तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्। उपादिशत् सरागो हि स तदाऽसीज्जगद्गुरुः ॥ १८० ॥ तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता। कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१८१॥ वाणिज्यं वणिजां कर्म शिल्पं स्यात्कारकौशलम्। तच्च चित्रकला पत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम् उत्पादितास्त्रयो वर्णा स्तदा तेनादिवेधसा। क्षत्रियावणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१८३॥क्षत्रिया शस्त्रजीवित्वं अनुभूय तदाभवन्। वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविनः ॥ १८४ ॥ तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते। द्विधा कार्वकारवः। कारवो रजकद्याः स्युः ततोऽन्येस्युरकारवः ॥१८५॥ कारवोऽपि मना द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः। **तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः** ॥१८६॥ यथास्वंस्वोचितं कर्म प्रजादध्युरसंकरम्। **विवाहजाति संबंध**व्यवहारश्च तन्मतम् ॥ १८७ ॥ यावती जगती वृत्तिः अपापोपहता च सा। सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥ १८८ ॥

कर्मों द्वारा वृत्ति उपजीविका करनेका उपदेश दिया था। उन्ही छह कर्मोंमेंसे तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है। लिखकर आजीविका करना मसिकर्म कहलाता है। जमीन को जोतना, बोना कृषिकर्म कहलाता है। शास्त्र पढाकर या नृत्य गायन आदिके द्वारा आजीविका विद्या कर्म है। व्यापार करना वाणिज्यकर्म है और हस्तकी कुशलतासे जीविका करना शिल्पकर्म कहलाता है। यह शिल्पकर्म चित्र खीचना, फूले-पत्ते आदि काटना आदिकी अपेक्षा अनेक प्रकारका माना गया है। **उसी समय भगवानने तीन वर्णोंकी स्थापना की थी।** जो कि क्षतत्राण अर्थात् विपत्तिसे रक्षा करना आदि गुणोंके द्वारा क्रमसे क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र कहलाते थे। वे शूद्रही दो प्रकारके थे। एक कारु और दूसरा अकारु। कारु शूद्रभी स्पृश्य अस्पृश्य भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं। उनमें प्रजासे बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य और नाई आदिको स्पृश्य स्पर्श योग्य कहते हैं।

वर्ण शब्दका अर्थ

उपर्युक्त १८३ वे श्लोकमें उपजीविकाके उपाय बतलाकर तीन वर्णोंकी स्थापना की ऐसा वर्णन है। इसमें 'वर्ण' शब्दका अर्थ लेखकने लिखा नहीं। वर्ण याने 'रंग भेद जाति आदि ऐसे अर्थ" 'शब्दरत्नमहोदधि' गुजराथी कोषमें लिखा हैं। उस समय जितने पापरहित आजीविकाके उपाय थे वे भगवानके संमतिसेही प्रवृत्त हुये थे। इस प्रकार भगवानने कर्मयुगका प्रारंभ किया था। इसलिये पुराणके जाननेवाले उन्हे 'कृतयुग' नामसे जानते हैं। इस प्रकार जब कितनाही समय व्यतीत हो गया और छह कर्मोंकी व्यवस्थासे जब प्रजा कुशलपूर्वक सुखसे रहने लगी तब इंद्रोंने आकर उनका सम्राट्पद-पर अभिषेक किया।

भगवानने उपजीविकाके षट्कर्म बताकर उनके नियम बता दिये और यथोचित निश्चित आजीविकाको छोडकर कोई दूसरी आजीविका नही करता था। इसलिए उनके कार्योंमें कभी मिलावट (संकर) नहीं होता था।

इसी तरह विवाह, जातिसंबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवानके आज्ञानुसारही होते थे।

कर्मभूमिके प्रारंभमें भगवानने पहले उपजीविकाके उपाय बताकर तीन वर्ण स्थापित किये और उनके कर्म निश्चित कर दिये। उसीके साथ विवाह, जातिसंबंध और व्यवहार आदिका ही नियमन कर दिया था। श्लोकमें 'जातिसंबंध' शब्द आया है उससे जातिभी मानी जाती थी यहां स्पष्ट है। षट्कर्म क्रिया स्थिर होनेमें जो पुरुष या समूह इस गुणसे अपनी योग्यता स्थापित कर गये उनमेंसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्थापना किये गये। इसका यह अर्थ नहीं होता कि कोईभी पुरुष कभीभी गुणके आश्रयसे अपना वर्ण बदल सके।

दूसरी बात यह है कि, भगवानको जन्मसे ही तीन ज्ञान (मति-श्रुति-अवधि) थे। उसका विचार करके हि उन्होंने परंपरागत परंतु अव्यक्त क्षात्र-गुणोंके जानकर ही कालानुरूप व्यक्त रूपसे दो भेद कर एकको शासक और दूसरेको शास्यभेदसे स्थापित किये। इसके अलावा जो नीचगोत्रसे वहां उत्पन्न होकर हिंसादि पांच कर्म करते थे उनका सेवाकर्म निश्चित कर शूद्र नामसे उनकी स्थापना कर दी।

कालपरिवर्तनसे स्वभावमें फरक

भोगभूमिका अंत होने समय काल दोषसे व्याघ्र, सिंह जैसे प्राणि जो कि भोगभूमीमे शांत और तृणाहारी थे वे भी क्रूर होकर मांसभक्षी हो गये। ऐसी ही मनुष्यमेंभी क्रूरता उत्पन्न होगई और उनमेंसे कितने जीव मांस-भक्षक हो गये। उपर्युक्त १८८ श्लोकमें पापरहित उपजीविकाके उपाय भग-वानके संमतिसे प्रवृत्त हुये थे ऐसा लिखा है। इसपरसे **उसी समयदोषसे कुछ लोग हिंसावृत्तिके थे और कुछ मांसभक्षण करनेवालेभी थे। इसी लिये** भगवानको पापरहित उपजीविकाकी क्रियाका संचालन करना अवश्य

पडा। या भगवानने अवधिज्ञानसे जानकर ही वैसे पापाचरण करनेवालोको शूद्रवर्गमें शामिल किया।

सारांश—भगवानने पहले उपजीविकाके मार्ग बताये। साथ ही तीन वर्ण या समूह, वर्ग या जाति निर्माण कर उनके कर्म निश्चित कर दिये। उसीके साथ व्यवहार, जातिसंबंध और विवाहका भी नियम कर दिया यह स्पष्ट है। लेखक वर्णव्यवस्था तो मानते हैं किन्तु उसीके साथ विवाह व्यवहार और जातिसंबंधका नियमन किया है उसका उल्लेख करते नहीं। विवाहका नियमन माननेसेही जातिकी उत्पत्ति माननी ही पडती है। और भगवानने वृत्तिके साथ उपर्युक्त तीनोंही विशेष प्रतिपादन किये है वे उनके आजके जाति संहार विच्छेदक कल्पनामें बाधा देनेवाले होते हैं। इसी लिये वे उनका विवेचन छोड देना इष्ट मानते हैं।

स्पृश्याऽस्पृश्यविचार

आगे चलकर उपर्युक्त पांच श्लोकोंकी आनुपूर्वीसेः—

कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविभागतः।
तत्राऽस्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः॥ १८६

इस श्लोकका भी जनपरम्परासे कुछ संबंध नहीं इसलिये वहभी श्रीजिनसेनाचार्यका नहीं ऐसा विधान लेखकने किया है।

आजकल स्पृश्यास्पृश्य भेद मिटानेका महात्मा गांधीके सूत्रानुसार जो प्रवाह चल रहा है उसको जैनसांप्रदायकाभी आधार है यह दिखानेके लियेही यह श्लोक मूलग्रन्थकारका नहीं ऐसा बतानेका प्रयत्न हो रहा है। गांधीजीके मतोंकी छाया आजके जैनविद्वानोंपरही पडी है इसीसे वे जैनाचार्योंके आश्रयसे कुछ अर्थविपर्यास करके इन मतोंका समर्थन कर रहे हैं। इतनाही नहीं किन्तु महापुराण ग्रंथके प्राक्कथन और प्रस्तावनामें इस ग्रंथको आधुनिक इतिहाससदृश मानकर उसमें यह स्पर्शास्पर्श भेद, जातिभेद आदि पश्चात् शामील किये गये है। यह सावीत करनेके लियेही वह प्राक्कथन लिखा गया है।

उपर्युक्त श्लोकसे स्पर्शास्पर्श भेदका विचार किया जाता है। स्पर्शास्पर्शके भेदका वर्णन प्राचीन ग्रंथोंमें पाया जाता है। देखियेः—

स्पर्शाऽस्पर्शके प्रमाण

१ श्रीवट्टकेरस्वामी अपने मूलाचार ग्रंथके पिण्डशुद्धि प्रकरणके ७९ और ८१ श्लोकमें इस प्रकारका वर्णन मिलता है।

मुनीश्वर भोजनके लिये निकले हुये जो उनका अभोज्यगृह याने चाण्डालादि गृहमें प्रवेश हो जाय अथवा उनका स्पर्श हो जाय तो भोजनका त्याग करना चाहिये।

उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं। उववेसणसदंसं भूमीसंफासणिट्ठवणम् ॥ ७९

टीका— तथापर्यटतोऽपि अभोज्यगृहप्रवेशो यदा भवेत् चाण्डालादि-गृहप्रवेशो यदि स्यात्।

एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणस्सेह। बीहणलोगदुगंछणसंजम णिव्वेदणट्ठंच ॥ ८१

टीका— तथा अन्ये बहवः श्चाण्डालादिस्पर्शकलहेष्टमरणसाधर्मिक संन्यासपतनप्रधानमरणादयो अशनपरित्यागहेतवः।

२ रा प्रमाण श्रीवसुनंदि आचार्यकी तत्त्ववृत्ति पान १५५ में किल्बिषिका इति को अर्थः? वाहनादिकर्मसु दिवाकीर्तिसदृशा इत्यर्थः।

स्वर्गमें जो किल्बिषिक नामके देवका भेद है उसका क्या अर्थ है? ऐसा प्रश्न उठाते हुये उत्तरमें वे दिवाकीर्ति मायने नाई चाण्डालके समान माने जाते हैं। इस उल्लेखसे चाण्डालादि जाति अस्पृश्य मानी जाती है।

३ रा प्रमाण— राजवार्तिक ग्रंथके चौथे अध्यायमें श्रीअकलंकस्वामी 'किल्बिषिकाः अन्त्यवासिस्थानीयाः' याने चाण्डाल समान है ऐसा उल्लेख करते हैं।

४ था प्रमाण:— श्रीयतिवृषभाचार्य तिलोयपण्णत्ती ४ थे अध्यायके १६२२ नंबरके गाथामें ऐसा लिखते हैं— " चाण्डाल—सबर—पाण—पुलिन्द—नाहल—चिलायपहुदि कुला। " अर्थात् चाण्डाल, शबर, पाण (कुत्तेका मांस भक्षण करनेवाले) कुलिंग, नाहल (धीवर), चिलात (भिल्ल) यह जातियां चतुर्थकालमें उत्पन्न होती है।

५ वा प्रमाण:— पं. आशाधरकृत अनगारधर्मामृतमें पिण्डशुद्धि अध्याय श्लोक ५९—६०

तद्वच्चाण्डालादिस्पर्शः कलहप्रियः प्रधानमृतिः।
भीतिर्लोकजुगुप्सा सधर्मसंन्यासपतनं च ॥ ५९
सहसोपद्रवभवनं स्वमुक्तिभवनं स्वमौनभंगं च।
संयमनिर्वेदावपि बहवोऽनशनस्य हेतवोऽन्येऽपि ॥ ६०

अर्थात् अशनत्यागके अनेक हेतुओंमें चाण्डालादिकोंका स्पर्शभी एक कारण है।

उपर्युक्त पांच प्रमाणोंसे स्पर्शास्पर्शका संबंध जैन परंपरासे पीछेस जोडा गया यह कहना मिथ्या पडता है। श्रीवट्टकेराचार्य यतिवृषभाचार्य और अकलंक आचार्य श्रीजिनसेन आचार्यसे पहले हुये हैं।

श्री गुणभद्राचार्य अपने उत्तरपुराणके प्रशस्तिमें कविपरमेश्वरके पुरुचरित गद्यग्रंथके आधारसे यह आदिपुराण लिखा है ऐसा लिखते हैं।

कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।
सकलच्छंदोलंकृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचितम् ॥ १७
व्यावर्णनोरुसारं साक्षात्कृतसर्वशास्त्रसद्भावम्।
अपहस्तितान्यकाव्यं श्रव्यं व्युत्पन्नमतिभिरादेयम् ॥ १८
जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम्।
सिद्धांतोपनिबंधनकर्त्राभर्त्रा विनेयानाम् ॥ १९

श्रीजिनसेन स्वामीके पश्चात् श्रीवसुनंदि आचार्य और पं. आशाधरजीने उक्त आचार्योंका अनुसरण किया है। इससे न्यायाचार्यजीके कल्पनानुसार स्पर्शास्पर्श दिखानेवाला श्लोक टिप्पणीसे मूल ग्रंथमें शामिल हुवा मानना यह केवल स्वमतसिद्धिके लिये ही मनगढंत कल्पना ही माननी पडती है।

महापुराण क्या इतिहास है या धर्मशास्त्र है ?

ग्रंथके प्रकृतिशीर्षमें लेखकने " स्वामिजिनसेनके युगमें दक्षिण देशमें ब्राह्मण धर्म और जैन धर्मका जो भीषण संघर्ष रहा वह इतिहास प्रसिद्ध है। आचार्य जिनसेनने भगवान् महावीरके उच्चतम संस्कृतिको न भूलते हुए ब्राह्मणक्रियाकाण्डका जैनीकरणका सामयिक प्रयत्न किया।" ऐसा लिखा है। इसपरसे वे इस ग्रंथको आधुनिक इतिहास-दृष्टिसे देखकर आलोचना कर रहे हैं। किन्तु ऐसे इतिहासका भास या उस समयकी प्रवृत्तिका कुछभी उल्लेख मूल ग्रंथसे अनुमानित नहीं होता। स्वामिजिनसेनजीने इतिहासकी जो व्याख्या की है उसपरसे लेखककी इतिहासकी व्याख्या अलग है। आचार्य अपने ग्रंथमें इतिहासकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं:–

" यह ग्रंथ ऋषिप्रणीत होनेके कारण आर्ष, सत्यार्थका निरूपक होनेसे सूक्त, तथा धर्मका प्ररूपक होनेके कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। ‘ इति इह आसीत् ’ यहां ऐसा हुवा, ऐसी अनेक कथाओंका निरूपण होनेसे ऋषिगण इसको इतिहास, इतिवृत्त, और ऐतिह्य भी कहते हैं। जिस इतिहास नामक महापुराणका कथन स्वयं गणधरने किया है उसे मैं मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर कहूंगा। क्योंकि मैं अल्पज्ञ हूं। "

ऋषिप्रणीतमार्षं स्यात् सूक्तं सूनृतशासनात्।
धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिदं स्मृतम् ॥ २४।१
इतिहास इतीष्टं तद् इति हासादिति श्रुतेः।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत् ॥ २५।१

पुराणमितिहासाख्यं यत्प्रोवाच गणाधिपः ।
तत्किलाहमधीवेक्ष्ये केवलं भक्तिचोदितः ।। २६।।
पुराणं गणभृत्प्रोक्तं विवक्षोर्मे महान्भरः ।
विवक्षोरिव दम्यस्य पुंगवैर्भारमुद्ध्दृतम् ।। २७

इस उल्लेखसे आचार्य इस ग्रंथको गणधरप्रतिपादित परंपरामें चला आया हुवा मानते हैं। उनको ब्राह्मणसंघर्षका इससे कुछभी संबंध लगाना इष्ट नहीं था। वे तो एक जिनमार्गके कडे श्रद्धानी थे। वे दुनियाके दूसरे झंझटसे दूर थे। वे स्वतंत्ररूपसे कुछ कल्पना करके इसमें मिश्रण करना नहीं चाहते थे। वे उस कालके प्रभावसे आगमविरुद्ध या परंपराविरुद्ध लिख नहीं सकते। इसीलिये उन्होंने अपने ग्रंथमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंमेंसे श्री आदिभगवानका जो चरित्र हुवा उतनाही लिखा है। इसीसे उन्होंने 'यहां ऐसा हुवा' ऐसी इतिहासकी व्याख्या की है। वह भी जो गणधरने कहा वैसेही मैं भक्तिवश कहता हूं ऐसी प्रतिज्ञा की है। अन्यथा उनपर प्रतिज्ञाभंगका दोष आता है। इस पुराणको आधुनिक इतिहासके तरह मानना भूल है। प्रो. डॉ. हिरालालजी पाण्डव-पुराणके सम्पादकीयमें लिखते हैं, 'पौराणिक कथाओंमें ऐतिहासिकता देखना बडी भूल है। क्या श्री जिनसेनस्वामी ब्राह्मणधर्मका संघर्ष छिपानेको डरते थे ऐसा मानना योग्य है? किन्तु न्यायाचार्यजीको यह बात इष्ट नहीं। इसीलिये वे आधुनिक इतिहासके व्याख्यानुसार इसकी आलोचना करके उस समयके प्रभावसे याने मनुस्मृतिका जो प्रभाव पडा उसको हटानेके लिये या अज्ञान जीवोंके मनपर जो उन क्रियाओंका असर पडा उसको उनके सदृश-क्रियाओंके सदृश दिखाकर अपने धर्ममें स्थिर करनेके हेतुसे उन क्रियाकाण्डोंका जैनीकरण किया ऐसा उनपर आरोपण कर रहे हैं। और श्रीमहावीरके उदारतम संस्कृतिसे न भूलते हुये उस क्रियाकाण्डका जैनीकरण किया ऐसा लिखते हैं। इसपरसे श्रीमहावीरकी उदारतम संस्कृतिको श्रीजिनसेन स्वामीने अनुदार या संकुचित किया ऐसा आरोपण होता है। किन्तु जिनसेनस्वामी महावीर स्वामीके

उदार संस्कृतिको अनुदार या संकुचित करनेमें पाप समझते थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्योंका उल्लेख कर कविपरमेश्वर सरीखे नामवंत कवि और आचार्योंने जो अनेक पुराण ग्रंथ बनाये उनके आधारसे यह ग्रंथ बनानेका और अपने अल्पबुद्धिका उल्लेख किया है। श्रीगुणभद्राचार्य कहते हैं—

> गणाधीशैः प्रणीतेऽपि पुराणेऽस्मिन्नहं यते ॥ ३०
> पुराणकविभिः क्षुण्णे कथामार्गेऽस्ति मे मतिः ॥ ३१
> तत्पुराणकवीनेव मत्वा हस्तावलंबनम् ।
> महतोऽस्य पुराणाब्धेस्तरणायोद्यतोऽस्म्यहम् ॥ ३५

'कवि परमेश्वरने गद्यमें जो पुरुदेवका चरित्र कहा है उसको अनेक छंद और अलंकारसे युक्त, सूक्ष्म अर्थ व अधिकार्थसे भरे हुये पदसे रचित, सारयुक्त विशेष वर्णनसे युक्त, सर्व शास्त्रोंका रहस्य प्रगट करनेवाला, इतर काव्योंका तिरस्कार करनेवाला, श्रवणयोग्य, प्रगल्भ बुद्धिवालोंसे ग्राह्य, मिथ्या-कविके दर्प दलन समर्थ, सिद्धांतशास्त्रोंकी टीका करनेवाले और अपने अनेक शिष्योंके स्वामी ऐसे भगवत् जिनसेन स्वामीने यह महापुराणकी रचना की है।'

उपर्युक्त श्रीगुणभद्रस्वामीके उल्लेखसे श्रीजिनसेनाचार्यकी योग्यताका वाचक विचार कर सकते हैं। तब लेखकका उपर्युक्त आरोपण कहाँतक सत्य है इसका पता चल सकता है।

श्रीजिनसेनस्वामीने ब्राह्मण-कर्मकाण्डका जैनीकरण किया यह उपर्युक्त आचार्यके पश्चात् होनेवाले अनेक आचार्य या कोईभी विद्वानोंने आजतक कहाँभी लिखा या कहा नहीं है। श्री अकलंकस्वामी क्या यह ब्राह्मण क्रियाका अनुकरण है यह जाननेमें असमर्थ थे? क्या श्रीजिनसेन स्वामिके अलावा उनके पहले आचार्यके ग्रंथ वे जानते नहीं थे? उन्होंने या उनके सरीखे या श्रीप्रभाचंद्र सरीखे अनेक आचार्य या विद्वानोंने ऐसा

आक्षेप किया नहीं। जिस स्पर्शाऽस्पर्शबाबत लेखक महावीरस्वामीके समय यह भेद नहीं था ऐसा कहते हैं, उसका समर्थन या उल्लेख श्री अकलंक देवने अपने राजवार्तिक ग्रंथमें किया सो क्यों ?

आधुनिक इतिहाससे तुलना —

दूसरी बात यह है कि इस ग्रंथकी तुलना आधुनिक इतिहाससे की नहीं जा सकती। इस ग्रंथमें तो प्राचीनकालमें हुये त्रेसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन श्रीमहावीर भगवानकी परंपरा चलानेवाले श्रुतकेवली गणधर देवने किया है। अर्थात् यह सर्वज्ञ-कथित कथा होनेसे इसमें असत्यताका संकल्प करना मिथ्या है।

आधुनिक इतिहास उनके सामने उपस्थित साधनोंपर लिखा जाता है। पश्चात् संशोधनसे और कोई प्रमाण मिल जाय तो वह बदलना पडता है। इसलिये वह पूरा विश्वासार्ह माना नहीं जाता। ऐसी अवस्था आदिपुराणके संबंधमें नहीं है। वह सर्वज्ञपरिपाटीके अनुसार कही गई प्राचीन मूल कथा है। इसमें पीछेसे कोई बदल हो नहीं सकता। इसी दृष्टिसे इसको आचार्योंने इतिहास कहा है। वाचकोंने यह भेद अवश्य ध्यानमें रखकर इस ग्रंथको देखना चाहिये।

न्यायाचार्यजीको केवल नामसादृश्यसे इसीको आधुनिक इतिहास मानकर उसकी तुलना करनेका हेतु उनको जातिव्यवस्था और अस्पृश्यता निवारणका समर्थन करके, वह श्री महावीरकी परंपरा नहीं है ये दिखानेका है।

यह ग्रंथ इतिहास होकर धर्मशास्त्रभी है। ऐसा जिनसेन स्वामीने कहा ही है। और गणधरप्रणीत होनेसे आचार्य इसको परंपरासे चला आया हुवा मानते हैं। क्या वे वैदिक संस्कारोंको वे जैनियोंके न होतेही जैनोंके उसमेंभी गणधरदेवोंके हैं ऐसा झूटा लिख सकते हैं ?

क्या इतिहास प्रमाण है ?

आजकल पाश्चात्य विद्यासे प्रभावित लोगोंकी वृत्ति जो इतिहास दृष्टिसे सत्य होगा उसीको प्रमाण माननेकी हो रही है। वे धर्मपरंपरा या सर्वज्ञके वचनके लिये साशंक है। उनको लक्ष्यकर आधुनिक जैन पण्डितभी उसी दृष्टिसे आगम ग्रंथको देखकर उसका परीक्षण कर रहे हैं। वर्तमान कालीन ऐतिह्य प्रमाणमें जो वस्तु या पदार्थ, शिलालेख, ग्रंथ, अनेक राजाओंकी खबरें सुवर्ण,चलन आदि सामग्री देखकर या मिलाकर उससे पूर्वकालीन पदार्थ, धर्म और सामाजिक अवस्थाका अनुमान करते हैं। किन्तु वह अनुमान सर्वथा प्रमाण हो सकता नही। वैदिक संस्कृति तीन हजार वर्षकी है। ऐसा आजतक माना जाता था। लेकिन मोहोन-जो-दारोके उत्खननमें जो वस्तु मिली है उससे उसके पहिले द्रविड संस्कृति थी ऐसा मान रहे हैं। न जाने और दूसरे उत्खननसे और कितने कालतकका पता लगेगा? उत्खननमें जो वस्तु प्राप्त होती है उसीसे जो अनुमान किया जाता है वह पीछेके उत्खननमें जो वस्तु प्राप्त होती है उसीसे वह अनुमान झूटा पड जाता है। इससे केवल इतिहास प्रमाणपर वस्तु या संस्कृतिका निर्णय करना यथार्थ नहीं। यह बात आधुनिक विद्वान् मान्य, करते हैं और अपने ज्ञानकी मर्यादाभी समझते हैं। किन्तु हमारे विद्वान् और पण्डित अपने संस्कृतिका अभिमान रखते हुयेभी सर्वज्ञपरंपरा-कथित ग्रंथका परीक्षणके नामपर उसपर आक्षेप करते हैं यह इस ग्रंथके प्रस्तावना लेखसे स्पष्ट होता है।

आचार्य जिनसेन स्वामीने, 'जो गणधरदेवने कथा कही है उसीकोही मैं कहता हुं ऐसी प्रतिज्ञा की है। इतनाही नहीं किन्तु खुद गणधर देवभी "मैंने भगवानके दिव्यध्वनिसे जैसा कुछ सुना है वह ज्यों-का-त्यों आप लोगोंको कहता हूं" ऐसा कहते हैं। लेखक गणधर देवको अवधिज्ञान था यह मानते होंगे तो वे अल्पज्ञानी विद्वानोंके समान अनुमानसे कुछ सिद्धांत निकालनेवाले नहीं थे इतना तो उनको माननाही पडेगा। ऐसी

अवस्थामें श्रीजिनसेन स्वामीने स्मृतिकालीन ब्राह्मणोंका अनुकरण किया ऐसा उनका आक्षेप मिथ्या पडता है । लेखकके मतानुसार आधुनिक इतिहासपर अवलंबित होकर जैनग्रंथोंका (स्मृतिका) अवलोकन या परीक्षण करने लग जाय तोः—

१ मति श्रुति छोडकर अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान था, इसका क्या प्रमाण मिलेगा ?

२ श्री आदिभगवंतके शरीरकी ऊंचाई, आयु प्रमाण क्या इतिहास दृष्टिसे सच्चा माना जा सकता है ?

३ स्वर्ग और नरककी कल्पनाभी कैसी सच्ची मानी जायगी ?

४ आदिभगवंतसे लेकर चौवीसों तीर्थंकरोंकी भवान्तरकथाभी कल्पित माननी पडेगी.

५ ' सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्य चिद्यथा ' यह श्रीसमंतभद्र स्वामीके वाक्यभी अविश्वासनीय मानने पडेंगे या उनकोभी इसका ज्ञान नही था ऐसा मानना होगा ?

६ महावीर स्वामीका गर्भकल्याणिक हुवा, जन्मकल्याणके समय इंद्र आये और उनको मेरु पर्वतपर ले गये, दीक्षा कल्याणिक हुवा आदि सभी बातोंका क्या इतिहासमें उल्लेख है ? गौतम बुद्ध महावीरके समय मौजूद थे ? उनके ग्रंथमें उपर्युक्त कल्याणोत्सवका निर्देश नहीं, इसी तरह दूसरे कहींभी उल्लेख नहीं इसलिये वह सत्य मानना या नहीं ?

इस दृष्टिसे सर्वत्र इतिहास प्रमाण माननेसे काम चलेगा नहीं यह न्यायाचार्यभी मान्य करेंगे !

महापुराण कोई उपन्यास ग्रंथ नहीं !

यह ग्रंथ गणधर देवने कहा हुवा ' सूक्त ' है याने सच्चा इतिहास है । पूर्वकालमें घटित कार्य दिखानेवाला शास्त्र है । कोई कल्पित कथा या उपन्यास नहीं है । आजकल बहुतसे विद्वान् वैदिक पुराणोंके समान जैनपुरा-

णभी कल्पित कथा मानते हैं। वह उनका मिथ्या आभास है। जैनकथा मूलरूपसे सभी सचीही अतएव वे इतिहास कही जाती है। यह ग्रंथ केवल इतिहासात्मकही नही किन्तु धर्मका निरूपण होनेसे धर्मशास्त्रभी है। ऐसा आचार्य कहते हैं ? इतिहास केवल बनी हुई बातोंको बतायगा। लेकिन् उस समय जो भलीबूरी क्रियायें बनी उनका क्या फल हुवा? उसका निरूपण और यथार्थ मार्गका-पापपुण्यका निदर्शन धर्मशास्त्र करता है। इसीलिये आचार्यश्री आदिपुराणको केवल इतिहास न कहकर धर्मशास्त्रभी कहते हैं। अर्थात् धर्मशास्त्र याने आत्मसन्मुख होनेके लिये जो क्रिया करनी पडती है उसका मार्गदर्शन करनेवाला शास्त्रही कहलावेगा। और वह अर्थात् निर्दोष याने सर्वज्ञ कथितही होगा। इसलिये गणधरादि मुनिपरंपरासे चले हुए मार्गकाही आचार्य प्रतिपादन करेंगे। उससे स्वतंत्र या दूसरे शास्त्रके प्रभावसे विपरीत कथन कभीभी कर नहीं सकते। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

१ धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनश्चरितमत्र महापुराणे। यद्वा कवींद्रजिनसेनमुखारविंदनिर्यद्वचांसि न हरन्ति मनांसि केषाम्॥ ४।४२ पर्व

ग्रंथके परीक्षणके लिये समान भूमिका चाहिये।

लेखक श्री आदिपुराणको इतिहास दृष्टिसे देख रहे हैं। समानालोचनाके लिये सामानाधिकरण्यकी अवश्यकता रहती है। आदिपुराण गणधर प्रणीतपरंपरासे चला आया हुवा पुराण और धर्मग्रंथ है। वह आधुनिक इतिहासोंके समान केवल इतिहास ग्रंथ नहीं, इसलिये इसकी तुलना इतिहासके कसोटीपर नहीं की जा सकती।

आदिपुराण घटनात्मक ग्रंथ है।

आदिपुराण यह जैनियोंका घटनात्मक ग्रंथ है। उसका अर्थ उसके उद्देशानुसार लगाना चाहिये। उनके उद्देशोंको न समझकर आजकलके परिस्थित्यनुसार या समझसे आपने मतपुष्ट्यर्थ उसका अर्थ लगाना यह

विद्वानोंका सच्चा कार्य नहीं कहलावेगा। आज भारत स्वतंत्र हुवा है। उसने अपने देशकी घटना बनवाई है। और उसके अनुसार आज यहां राज्य-शासन चल रहा है। सभी भारतवर्षीय प्रजा उसको आदरणीय मानती है। न्यायालयमें विवाद्य विषयोंमें न्यायाधीशोंसे जो निर्णय किये जाते हैं वे सभी घटनाके उद्देशानुसारही होने चाहिये ऐसा दंडक है। तोभी कोई न्यायाधीश जब अपना निर्णय उसके विरुद्धमें देते हैं तब उसका विचार सर्वोच्च न्यायालयमें किया जाता है। उसी समय नीचले न्यायाधीशने घटना-नुसार उस नियमोंका अर्थ किया है या नहीं यह देखा जाता है। इसी प्रकार जैन विद्वानोंकाभी कर्तव्य है कि वे अपने घटना-ग्रंथके अनुसारही आजके विवादस्थ बातोंका निर्णय देना चाहिये। जब कि विद्वान् लोकही उस घटना ग्रंथका अर्थ अपने मतानुसार लगाकर अपने स्वतंत्र मतकी स्थापना करना-चाहते है तब सामान्य जनताको यथार्थ अर्थ कोन समझावेगा? कोई विद्वान्‌को यह घटना मंजूर न हो तो वह अपनी अलग घटना बनाकर वह सर्वमान्य कर सकते हैं। किन्तु वैसे न कर उस घटनाका यही अर्थ होता है ऐसा कहना न्याय्य नहीं हो सकता।

क्या आचार्य स्मृतियुगसे प्रभावित हुये?

ग्रंथकी प्रकृतिशीर्षमें न्यायाचार्यजी लिखते हैं, "ग्रंथकार अपने युगके वातावरणसे अप्रभावित नहीं रह सकता। उसे जो विचारधारा परंपरासे मिलती है उसका प्रतिबिंब उनके रचित साहित्यमें आये बिना नहीं रहता। प्रस्तुत महापुराणभी उसका अपवाद नहीं। मनुस्मृतिमें गर्भसे लेकर मरण-पर्यंत जिन गर्भाधानादि क्रियाओंको वर्णन मिलता है, आदिपुराणमें करीब उन्ही क्रियाओंका जैनसंस्करण किया है"।

इसपरसे मूलमें श्रीमहावीरकी संस्कृति उदारतम थी, वह श्रीजिन-सेनने अनुदार एवं संकुचित की, ऐसा भाव प्रगट होता है। किन्तु आचा-र्यके उपर्युक्त श्लोकसे वाचक विचार कर सकते हैं कि वे गणधर परंपरा छोडकर एक

अक्षरभी इधर उधर कर नही सकते थे ? श्रीमहावीरके संस्कृतिको संकुचित या अनुदार करनेमें वे पाप समझते थे। इसीलिये उन्होंने अपने पूर्व आचार्योंका उलेख कर कविपरमेश्वर सरीखे अभिजात कवि और आचार्यने जो अनेक पुराणग्रंथ बनाये उनके आधारसेही अपना ग्रंथ बनानेका उल्लेख किया है।

उपर्युक्त आक्षेप न्यायाचार्यजीने किया है सो क्या श्रीजिनसेन आचार्यके पश्चात् हुये वादिराज, प्रभाचंद्रजी आदि आचार्योंको श्रीजिन-सेन स्वामीपर ब्राह्मणसंस्कृतिका असर पडा और उन्होंने मनुस्मृतिके संस्कारका जैनीकरण किया यह बात मालूम नहीं हुई ? या मालूम होते हुयेभी उन्होंने अंधानुकरणसे वैसेही गीत गाये ? वैदिक चातुर्वर्ण्य अवस्था और जातिव्यवस्था श्रीमहावीर स्वामीके समयमेंभी थी। खुद गौतमबुद्धने जाति व्यवस्थापर हल्ला चढाया था। चार्वाक मतवाले तो महावीर स्वामीके समयभी थे। ऐसी अवस्थामें प्रभाचन्द्रादि आचार्य इसका उल्लेख करते नहीं इसका क्या कारण होगा ? आजकल महात्मा गांधीने जातिविरुद्ध आंदोलन शुरु किया और वह जिसको इष्ट लगा वे उनके अनुयायी बन गये सो ठीक है। इसी तरह जैन पण्डितभी उनके अनुयायी बने जा रहे हैं। उनको कौन रोंक सकता है ? किन्तु वैसे न करते हुये श्रीमहावीर स्वामीको आड लेकर श्रीजिनसेन स्वामीनेही वह वैदिकोंका अनुकरण करके जाति व्यवस्था शुरू की ऐसा कहना केवल स्वमतके समर्थनार्थही उनपर झूटा आरोपण करना मालूम होता है। श्रीजिनसेन स्वामीपर वैदिकोंका प्रभाव पडा या नहीं ये बात विवादस्थ है।

न्यायाचार्यजीपर गांधीवादका प्रभाव

न्यायाचार्यजी गांधी मतके या उनके श्रद्धेय प्रज्ञाचक्षु सुखलालजीके प्रभावमें पडे हुये दीख रहे हैं। इसीलिये प्राचीन, उदार संस्कृतिका पुन-रुद्धार करके श्रीजिनसेनकी संकुचित संस्कृतिको आधुनिक इतिहास दृष्टिसे

तुच्छ समझकर उसका दोष आचार्यके सिरपर लादनेके लियेही उनका प्रयत्न हो रहा है। ऐसा न होता तो साक्षात् गणधरादिपरंपरासे अपने ग्रंथके निर्माणकी प्रतिज्ञा उनके श्लोकोंसे स्पष्ट होते हुये वे मनुस्मृतिके श्लोकके सादृश्य दिखाकर उसका प्रभाव जिनसेन स्वामीपर लादनेका और उनकी प्रतिज्ञा मिथ्या ठहरानेका वे प्रयत्न न करते।

आचार्य श्रीशांतिसागर महाराज क्या आजके प्रभावमें आगये ?

आचार्य श्रीशांतिसागर महाराज आजके स्पृश्यास्पृश्य या जाति विच्छेदन चर्चाके प्रभावमें आगये ऐसा कोई कहनेका साहस कर सकता है ? वीस पचीस बरसमें गांधी महाशयके आंदोलनसे या ६०–६५ बरसके कॉंग्रेसके आंदोलनसे उपर्युक्त दो विषयोंका असर दिगंबर जैन साधुपर क्यों नहीं पडा ? वीतरागी मुनि सांसारिक आंदोलनसे अलिप्त रहकर वे केवल जिनागमानुसार अपना चारित्र निर्मल रखनेका और अपने भक्तोंको आगममार्ग दिखानेकाही कार्य करते रहे। वे दुनियाके दूसरे और प्रतिक्षण बदलने वाले झंझटोंमें पडते नहीं थे, यह वर्तमानकालीन एक असामान्य दिगंबरका आचरण और उनकी आगमपर अकाट्य श्रद्धासे स्पष्ट होता है। फिर श्रीजिनसेन स्वामी सरीखे महान् आचार्य क्या दूसरेके विचारप्रवाहसे अपनी श्रद्धा बदलकर आगममार्गविरुद्ध दूसरोंके वाङ्मयमें कुछ शब्दोंका फेरफार कर उनकी क्रियाओंको अपनी मनवानेमें प्रयत्न करते थे ऐसा मानना योग्य होगा ? इसकाभी वाचक विचार कर सकते हैं।

धर्मशास्त्र और तर्कशास्त्र भिन्न है।

आदिपुराण धर्मशास्त्रका निरूपण करता है। वह अनुभवका शास्त्र है। इसका यथाशास्त्र आचरण करनेसे सदाचार और तपश्चरणके प्रभावसे आत्मामें जो शुद्धि होती है, उसीका ज्ञानपर प्रभाव पडनेसे वह ज्ञानभी शुद्ध बनता है। इसका अनुभव तपश्चरण करनेवाले आचार्यही जान सकते है। साहित्य, न्याय इत्यादि ज्ञानसंपन्न जीव, अपनी बुद्धि कितनीहि प्रगल्भ

कर ले तोभी उनको उस तपश्चरण प्राप्त शुद्ध बुद्धिका या ज्ञानका अनुभव न होगा। तर्क यह बुद्धिका विलास है। वह अनुभवात्मक नहीं। इसीलिये जैनशास्त्रमें अवधिमनःपर्यय ज्ञानकी महिमा बताई है। वह ज्ञान केवल शुद्ध आत्मासेही उत्पन्न होता है। उसे इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रहती। स्वयंभू-स्तोत्रमें श्रीसमंतभद्र स्वामी कहते हैं--

स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले समंजसज्ञानविभूतिचक्षुषा ॥

अर्थात् संसारके प्राणिमात्रके हितकेलिये श्रीआदिनाथ भगवानने अपने विशिष्ट ज्ञानरूप चक्षुसे देखकरही उपदेश दिया है।

ऐसेही महाभाग पुरुष अपने दिव्यज्ञानसे सर्व पदार्थको प्रत्यक्ष समान देख सकते है। और सर्व प्राणिमात्रके हितकेलिये विदेहक्षेत्रकी रचना जानकर यहां त्रिवर्णकी उत्पत्ति करते हैं। उनके ज्ञानमें जब शूद्रोंकी मनःशक्ति या व्रतधारण करने लायक परिणामशुद्धि, उनके पूर्व जन्मकृत पापसे उत्पन्न न होती हो, तो उनकी गणना शूद्रमें कर देना यह कैसा अनु-चित कहलावेगा? भगवान्‌को केवल उपजीविकाओंका मार्गही उद्दिष्ट नहीं था। उसके साथ उनको अपने आत्माकाभी उद्धार करनेकी फिकर थी। इस दृष्टिसेही शूद्र पुरुष अशुभ क्रियाओंको छोडकर शुद्धोपयोग क्रियामें लग जाय तो उनको पुण्यबंध होकर भविष्यत् कालमें वे भी उच्चगोत्रीय बनकर अपना आत्मा शुद्ध कर सकते हैं। इसलिये वस्तुतः कर्मभेदसे जो अवस्था प्राप्त होती है उसको यथार्थ बतानाही भगवंत सर्वज्ञका कर्तव्य ठहरता है। विद्वान् लोक जबतक इंद्रियज्ञानसे परे हुये नहीं तबतक तर्कज्ञानसे सर्वज्ञके ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकते। तर्कज्ञान निष्क्रियबुद्धिका विलास है। और दूसरा अनुभवजन्य ज्ञानका परिपाक है।

पश्चिम देशमें दर्शनशास्त्र केवल 'फिलॉसफी' या विद्याका अनु-रागमात्र है। वह पण्डितोंका मनोविनोद या बुद्धिका विलास है। किन्तु भारतमें इसका जीवनके साथ घनिष्ठ संबंध है। इसका उद्देश आध्यात्मिक,

आधिभौतिक, आधिदैविक तापोंसे संतप्त मानवजातिके क्लेशकी निवृत्ति करना है। पाश्चात्य लोक दर्शन और धर्म पृथक् मानते हैं। ऐसा भारतके उपराष्ट्रपति महापण्डित डॉ. श्री. राधाकृष्णजी कहते हैं।

क्या केवल व्रतसंस्कारही ब्राह्मणत्वका आधार है ?

इसके आगे न्यायाचार्यजी लिखते हैं, "मनुस्मृतिमें गर्भसे मरण-पर्यंतकी क्रिया है। उसी तरहका वर्णन आदि पुराणमेंभी थोडे फेरफारसे मिलता है। और इसी क्रियाओंका उनने जैनीकरण किया और उनमें ब्राह्मणत्वका आधार 'व्रतसंस्कार' माना। यह बात ब्राह्मणवर्णकी रचनाकी जो अंकुरवाली घटना इसमें आई है उससे स्पष्ट होता है। महाराजा ऋषभ देवके द्वारा स्थापित क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंमें जो व्रतधारी थे और जिनने जीवरक्षाकी भावनासे हरे अंकुरोंको कुचलते हुये जाना अनुचित समझा उन्हें भरत चक्रवर्तीने ब्राम्हणवर्णका बनाया। तथा उन्हें दान आदि देकर सन्मानित किया।" (पान ८)

आदिपुराणग्रंथका ३८ वा अध्याय 'द्विजोत्पत्ति संबंधका है[१]। वह देखनेसे उपर्युक्त न्यायाचार्यजीका कथन कहांतक ठीक है यह ध्यानमें आयेगा।

भरतराजा साठ हजार वर्षोंसे पृथ्वी जीतकर अयोध्या आगये। तद् नंतर उनको अपनी अपार संपत्तिका दूसरे जीवोंपर उपकार करनेके लिये क्या करना चाहिये इसकी चिंता हुई। तब उनने एक महान् पूजनयज्ञ किया और उसमें सभी लोगोंको बुलाकर उनमें दान देने जो योग्य कौन हैं उन लोगोंको दान देकर संतुष्ट करनेका विचार किया। फिर उनके मनमें यह विचार आया कि, इस समय जो अनगार (मुनि) हैं वे निस्पृह होनेसे कोईभी प्रकारका दान ग्रहण करेंगे नहीं। भरतके अयोध्या आनेके पहलेही अनगार (मुनि) विद्यमान थे यह भरतके वचनसे स्पष्ट होता है। कर्मभूमिमें सभी जीव भ्रष्ट थे या उनको धर्म नहीं था ऐसा मानना उचित नहीं। भोगभूमिके रहे हुये जीव और

---

१ द्विजन्मनामथोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः श्रुणु ॥

पुण्योदयसे कर्मभूमिमें उत्पन्न हुये जीव भगवानका आदेश मानकर धर्माचरण करते थे यह स्पष्ट है। अब रहे गृहस्थ। उनमें दान लेकर पूज्य बननेवाले कोई व्रतधारी हो तो उनको दान देनेसे वे धीर, वीर और पूज्य बनेंगे। ऐसेही लोगोंको उन गृहस्थोंमेंसे परीक्षा कर निकालनेके हेतुसे भरत चक्रवर्तीने सभी राजामहाराजाओंको आमंत्रण देकर ऐसा संदेश दिया कि, 'आप सब लोक आपआपके सदाचारी, इष्टमित्र और अनुजीवियोंके साथ हमारे पूजा-उत्सवमें अलग अलग आवे।'

चक्रवर्तीके इस आज्ञानुसार सभी महीभुज—राजा लोग अपने सदाचारी इष्टमित्र और अनुजीवियोंके साथ वहां आये। उनमेंसे जो अव्रती थे वे तो बिनाविचारे राजगृहमें प्रवेश कर गये। उनको हटाकर बचे हुये लोगोंको बुलाया गया। किन्तु बडे बडे कुलमें उत्पन्न हुये (महान्वय) और अपने व्रतकी सिद्धिके लिये चेष्टा करनेवाले थे, उनने जबतक मार्गमें हरे अंकुर हैं तबतक उसे कुचलकर राजगृहमें प्रवेश किया नहीं।[1]

न्यायाचार्यजी कहते हैं कि, 'महाराजा ऋषभदेवद्वारा स्थापित क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंमें जो व्रतधारी थे उन्हे ब्राह्मणवर्णके बनाया गया'। वस्तुतः मूल श्लोकमें शूद्र शब्दका उल्लेख नहीं। यह विधान शायद श्लोकमें जो 'अनुजीवि' शब्द है उस परसे किया हो। किन्तु राजा भरतचक्रीने राजा, महाराजा और उनके सदाचारी इष्टमित्रोंकोही आमंत्रण दिया था। उनके चाकर, नौकर, शूद्रोंको नहीं। साहित्याचार्य श्री. पन्नालालजीने हिन्दी टीकामें उस शब्दका अर्थ नोकरचाकर किया है। वह यथार्थ नहीं। आजकलभी

---

१ इति निश्चित्य राजेन्द्रः सत्कर्तुमचितानिमान्। परीचिक्षुराह्वास्त तदा सर्वान् महीभुजः ॥९॥ सदाचारैर्निजैरिष्टैः अनुजीविभिरन्विताः। अद्यास्मदुत्सवे यूयमायातेति पृथक् पृथक् ॥ १० ॥ तेष्वव्रता विना संगात्प्राविक्षन् नृपमंदिरम्। तानेकतः समुत्सार्य शेषानाह्वाययत्प्रभुः ॥ १२ ॥ ते तु तद्व्रत सिद्ध्यर्थं ईहमाना महान्वयाः। नैषुः प्रवेशनं तावत् यावदार्द्रांकुराः पथि ॥ १३॥

जो सभा, महासभा, लोकसभा, विवाह, पूजाप्रतिष्ठादि कार्योंमें जो आमंत्रण शिष्ट पुरुषोंको दिया जाता है उस वखत अपने अपने वैभवानुसार आनेवाले महाशय रथ, मोटार, अश्वादि वाहनोंपर सवार होकर आते हैं तो क्या उन सभी लोगोंको आमंत्रण दिया जाता है ऐसा माना जाय ? पं. जुगलकिशोरजी समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरंडमें) के ३६ वी कारिका, जो 'ओजस्तेजोविद्या' की है उसमें 'महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।' इसमें जो महाकुल शब्द है उसका यह अर्थ लिखते हैं:—

" सम्यग्दृष्टि जीव अपनी अपनी साधनाके अनुरूप ये अवस्थायें उत्तरोत्तर विशिष्टतासे उनको प्राप्त होती हैं। यहां पूर्वकारिकोल्लिखित दुष्कुलता और दरिद्रतासे छूटकर साधारण उच्चकुल तथा धन संपत्तिसे युक्त मानवही नही होता बल्कि ओजस्तेजोविद्यादिकी विशेषताके लिये महाकुलीन और महार्थ संपन्न मानवतिलकभी होता है । "

इससे महान्वयका अर्थ परंपरासे उच्च कर्म करनेवालेही होते हैं । नीच कर्म परंपरासे करनेवाले नीचगोत्री कहलाते है । और वही दुष्कुलीन होते हैं । उनकोही भगवानने शूद्र कहा है और वे अदीक्षार्हकुल है[1] । उनके उपनीत्यादिसंस्कार होते नहीं। जिस कुलमें परंपरासे मद्यमांसादि अभक्ष्य भक्षणका त्याग और सदाचार प्रवृत्ति रहती हैं वे उच्च गोत्री और जो परंपरासे अभक्ष्य भक्षण करते हैं वे नीचगोत्री कहलाते हैं। गोत्रकी व्याख्या—

संतानक्रमेण आगतस्य जीवस्याचरणं गोत्रम् ॥

इस पर्वके १३ वे श्लोकमें 'महान्वयाः' बडे कुलमें उत्पन्न हुये और अपने व्रतकी सिद्धिके लिये चेष्टा करनेवाले ये दो विशेषणात्मक शब्द दिये हैं उसपरसे महान्वयका अर्थ उच्चकुलीनही होता है। महान्वयमें क्या नीचकुलकाभी अर्थ समाविष्ट होता है ? यह विधान करते समय लेखक उच्च

१) अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥ १७०।४४ पर्व.

नीच गोत्रकर्मको परिवर्तित मानते है[१]। इसलिये उन्होंने नोकरचाकरोंमेंभी व्रतधारी थे उनको ब्राह्मण किया ऐसा विधान किया है किन्तु ऐसा स्पष्ट उल्लेख वहांपर नहीं है।

कुलकर कौन थे ?

भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव उच्च गोत्री क्षत्रियही होते हैं ऐसा गोम्मटसार कर्मकांडमें उच्चा सुरभोगभुमा लिखा है।

" भारतवर्षमें भोगभूमिके कालका अंत होकर कर्मभूमीकी रचना क्रमसे शुरू होनेके समय 'कुलकर' उत्पन्न हुये। उन कुलकरोंमें नाभिराज क्षत्रिय कुलमें प्रधान थे। उपर्युक्त कालसंधिमें भोगभूमिका अन्त और कर्मभूमिका प्रारंभ हुवा। "[२]

इस उक्तिसे क्षत्रियवंश नाभिराजके पहलेसेही विद्यमान था। उच्च गोत्रकर्मके उदयसे वे सभी क्षत्रिय कहलाते थे। भगवान् ऋषभदेवने कर्मभूमिके प्रारंभमें जन्म लिया उस समय भोगभूमिका अंत होनेसे भारतवर्षमें कालप्रभावसे जो क्रूरता आदि स्वभावपरिवर्तन हुवा उनकी व्यवस्था करनेके लिये पहले उपजीविका पश्चात् वर्णाश्रम व्यवस्था करना भगवानका कर्तव्य था अस्तु।

व्रती पुरुष राजगृहमें क्यों नहीं गये ?

भरतराजाने जब व्रती पुरुषोंको अन्यमार्गसे राजगृह मंदिरमें ले लिया तब उनको प्रवेशद्वारसे राजगृहमें न आनेका कारण पूछा। उसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि–

---

१) देखो तत्त्वार्थवृत्तिप्रस्तावना पा. नं. ४३, गोत्रकर्म एक जन्ममेंभी बदलता है। वह गुणकर्मानुसार परिवर्तित होता है।

२) तथा कुलधरोत्पत्तिः त्वया प्रागेव वर्णिता। नाभिराजश्च तत्रान्त्यो विश्वक्षत्रगणाग्रणीः ॥ ४।१२

सन्त्येवाऽनंतशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु ।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥ ३६।३८ पर्व

हरितादि अंकुरोमें अनंत निगोद जीव रहते हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा हुवा वचन हमने सुना है। उनका घात न हो इस लिये हम उस मार्गसे आये नहीं।

यह सुनकर और उनकी व्रतपालनकी दृढता देखकर भरतचक्रीने उनका सन्मान किया। यह देखकर दूसरे लोगभी उनको पूज्य मानने लगे।

भगवानने अपने पुत्रोंपर संस्कार किये थे—

इसपरसे ब्राह्मणवर्ग–स्थापनाके पहलेही क्षत्रिय वैश्योंमें व्रतधारी पुरुष थे। उनका आचारविचारभी भगवानने निश्चित कर दिया था। यह बात सिद्ध होती है। भगवानने खुद् अपने पुत्रपर संस्कारादि क्रिया कीथी।[1]

भरतचक्रवर्ति कहते हैं 'जो अनगार हैं वह निरिच्छ होनेसे दान न लेंगे'। इस उक्तिसे वे विजय कर आनेके पहलेसेही वर्णाश्रम व्यवस्था भगवानने स्थापित की थी। जब मुनिधर्म और गृहस्थधर्मका आचार पहलेसेही शुरु था तो उनके संस्कारादि क्रियाभी होती थी। फिर जिनसेन स्वामीने ब्राह्मण क्रियाओंका जैनीकरण किया यह कैसा कहा जाता है ? वस्तुतः उस क्रियाओं दृढ रहनेके लियेही उन संस्कारोंका फिरसे उपदेश दिया। वहभी स्वयं बुद्धिसे नही किन्तुः—

श्रुतोपासकसूत्रत्वात्स तेभ्यः समुपादिशत् ।

अर्थात् श्रुतोपासक सूत्रकेही आधारसे और वह परंपरासे चले रहे इस हेतुसे उन उच्च कुलधारी क्षत्रिय पुरुषोंको विशेष नाम देकर ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की यह स्पष्ट है। और उनको 'यह तुम्हारा कुलधर्म'

---

१) अन्नप्राशनचौलोपनयनदीननुक्रमात् । क्रियाविधीन्विधानज्ञः स्रष्टैवास्य निसृष्टवान् ॥ १६४।१५ ॥

है। इसका बराबर पालन करते रहो ऐसा कहकर उसकी सविस्तर विधि बतलाई।

त्रिवर्णोंकी उत्पत्ति

भोगभूमिमें उच्चकुलधारी जीवही उत्पन्न होते हैं। वहां कल्पवृक्ष विद्यमान होनेसे उनको उपजीविकाके लिये कोईभी क्रिया करनेकी जरूरत पडती नहीं। कर्मभूमिके प्रारंभमें जब सभी कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और वनस्पत्यादिका उद्गम स्वयं होता था वहभी बंद पडा तब प्रजाको आजीविकाका मार्ग बतानेके लिये षट्कर्मका उपदेश दिया गया। और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ग स्थापन किये। उन प्रत्येकका कर्म निश्चित कर दिया। इनमेंसे जो उच्चवर्गीय पहलेसेही भोगभूमिके परंपरासे चले आये क्षत्रिय नामधारी जीव थे। उनमें दो भेद हो गये। एक रक्षा करनेवाला और दूसरा रक्षण करने योग्य[1]। जो प्रजा रक्षण करनेमें तत्पर है वे वंश परंपरासे क्षत्रिय कहलाये। यद्यपि वह वंश बीज संततिसे बीज वृक्षके समान अनादिकालका है तथापि विशेषता इतनी है कि क्षेत्रकालकी अपेक्षासे उसकी सृष्टी (उत्पत्ति) होती है।

इसपरसे बीज वृक्षके समान क्षत्रियवंश अनादि ठहरता है। क्षत्रियका दूसरा रक्षणीय भेद है, उनमेंसे कर्मभूमीमें आजीविकाके साधन निर्माण करनेके लिये 'वैश्य' नामसे उनकी स्थापना करके उनका कर्म नियत कर दिया। अर्थात् ये दोनोही क्षत्रिय वंशके होनेसे महान्वयी कहलाये और वेही मोक्षमार्गके अधिकारी ठहरे।

कर्मभूमिमें जो नीचकर्मके उदयसे उत्पन्न हुये और स्वभावसेही नीचकर्म करनेमे प्रवृत्त हुए वे 'शूद्र' वर्णके कहलाये गये।

भरतचक्रवर्तीने व्रतधारी पुरुष अपने व्रतमें परंपरासे स्थिर रहे वह व्रतोंसे च्युत न हो पावे और अपना नियत कर्म करते रहे इसलिये तप, श्रुत

---

१ रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाःस्युस्तदन्वयाः। सोन्वयोऽनादिसंतत्या बीजवृक्षवदिष्यते॥ ११।४२॥ पर्व

और जाति येही तीन कारण उस व्रतरक्षणमें मुख्य होते हैं। उसको उल्लंघन न करके वे अपनी वृत्ति शुद्ध रखे इस हेतुसे उनको 'ब्राह्मण' इस शब्दसे उल्लेखित किया और उनका लक्षण और कर्म निश्चीत[१] कर दिया। सभी जीव समानबुद्धीके उत्पन्न होते नहीं और वे अपने जन्मजात क्रियामें दृढ रहनेकी शक्तिभी रख सकते नहीं, लेकिन् परंपरागत संस्कारसे उनमें पात्रता होती है किन्तु वर्तमानकालीन संगतिसे या पापकर्मके उदयसे वे अपना नियत कर्म करनेमें शिथिल बन जाते हैं। इसलियेही जो अपना नियत कर्म जागरुक रहकर करते हैं वेही तप और श्रुतको निष्ठासे पालन करनेमें तत्पर रहते हैं। और जो वे कर्म करनेमें शिथिल रहते हैं तो भी पूर्वजन्म संख्यासे उनकी पात्रता नष्ट न होनेसे उनको जातिब्राह्मण याने ब्राह्मणकुलमें जन्म होनेसे जातिब्राह्मण ऐसी संज्ञा दी गई है।

श्री आदिभगवानने केवलज्ञान होनेके पश्चात् द्वादशांग वाणीमें जो उपदेश दिया उसमें क्या तीनो वर्णोकी क्रियाका उपदेश नहीं था ऐसा न्यायाचार्यजी मानते हैं? और श्रीजिनसेनस्वामी उस द्वादशांग वाणीके बाहिरके अन्यविषय प्रतिपादन करते हैं ऐसा मानना चाहिये ? ऐसा माना जाय तो द्वादशांग सूत्रवाणीमें जिस मंत्रतंत्रयंत्रादिकका वर्णन है वह सभी मिथ्या मानना पडेगा। कोईभी जैनी द्वादशांगवाणीको मिथ्या माननेके लिये आज तयार न होगा।

द्विजोंके षट्कर्म

भरतचक्रीने उपर्युक्त व्रतधारी पुरुषोंको अपने व्रतमें दृढ बननेके लिये षट्कर्मका जो उपदेश दिया उसमें पहली क्रिया 'इज्या' अर्थात् 'पूजन-

---

१ विशुद्धावृत्तिरेषैषां षट्तयीष्टा द्विजन्मनाम्। योऽतिक्रमेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः ॥ ४२ तपःश्रुतंच जातिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥ ४३ अपापोपहता वृत्तिः स्यादेषांजातिरुत्तमा। दत्तीज्याधीतिमुख्यत्वात् व्रतशुध्या तु संस्कृता ॥ ४४

क्रिया ' है और दूसरी ' वार्ता ' उपजीविका कैसी करना इसका वर्णन करनेवाली हैं।

पहली ' इज्या ' क्रियाके अनेक प्रकार कहे हैं। दूसरी ' वार्ता ' क्रिया विशुद्धवृत्तिसे याने अंतरंगमें दयाभाव रखते हुये खेती वगैरे कहलाती है।[1] इसीके अलावा दान, स्वाध्याय, तप और संयम ये चार कर्म मिलकर छह कर्म प्रतिदिन सावधानतासे करनेवाला पुरुष द्विज है। [2] ब्राह्मणत्वके कारणोंमें तप, श्रुत व जाति ये तीन मुख्य कारण हैं। जो ये तीन न हो तो वह केवल जातिब्राह्मण कहलावेगा। जो इस प्रकार क्रिया न करेगा वह नामसेही द्विज कहावेगा। गुणसे द्विज नहीं। जिसकी वृत्ति या उपजीविका निष्पाप रहती है और जिसकी ' जाति ' उत्तम रहती है और जिसमें दान, पूजन, अध्ययनकी मुख्यता रहती है उसमें व्रतशुद्धीका मसाला मिलनेसे वह अधिक सुसंस्कृत बनती है।

क्या गुणोंकी उत्पत्ति कहांभी होती है ?--

उपर्युक्त श्लोकके अर्थसे जन्मसे द्विज होनेपरभी गुणसे द्विज नहीं कहा जाता ऐसा कहा है। यहांपर ' गुण ' शब्दका अर्थ मोक्षमार्ग संपादनकी योग्यता ऐसा लेना चाहिये। इसपरसे गुण उत्पन्न होनेके लिये कोई पूर्वापर सामग्रीकी अवश्यकता होती है। ऐसा न होता तो शूद्रोंको मोक्षमार्गका रास्ता अटकानेका कुछ कारण नही रहता। शूद्रोंमें परिणामकी शुध्दता पंचम गुणस्थानसे ऊपरकी होती नहीं ऐसा आगम कहता है। वैसीही स्त्रियोंमेंभी उस दर्जेकी परिणामशुद्धिका अभाव कहा है।

---

१ वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः।

२ तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राम्हण एव सः॥ ४३॥ अपापोपहता वृत्तिः स्यादेषां जातिरुत्तमा। दत्तीज्याधीतिमुख्यत्वाद्व्रतशुध्या सुसंस्कृता॥ ४४॥

कदाचित् कोई शूद्रको सदाचारके संस्कार होनेसे या सत्संगतिसे परिणामोंमें कषायकी मंदता हो तो वह उच्चकर्मका बंध कर सकता है और उससे वह उत्तरभवमें उच्चगोत्री बनकर मोक्षाधिकारी बन सकता है। किन्तु इतनी देरतक रुकना लेखकको मान्य न होनेसे वे केवल गुणकर्मके आधारसेही उनको मोक्षमार्गका रास्ता खुला कर देते हैं। भक्ष्याभक्ष्य विचार, मातृपितृ, कुलशुद्धि, व्यभिचारादि दोष, कुलपरंपरा आदि बातोंसे उनका कोई कर्तव्य नहीं। केवल शूद्रको सदाचारकी इच्छा होने मात्रसेही वह सीधा संसारसमुद्रसे पार हो सकता है ऐसा उनका मन्तव्य है। इसलिये वे आचार्योंके श्लोकका अर्थ अपनी मतानुसार कैसे करते हैं यह ध्यानमें आजायगा। ' तपः श्रुतं च जातिश्च ' यह श्लोक और उसके आगे-मनुष्य जातिरेकैव जानिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद्भेदाचातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ४५ ॥

इसका अर्थ आचार्योंके मतानुसार कैसा होता है यह वाचकके समझमें आजायगा।

द्विजवर्णकी उत्पत्ति कहते समय पहले उनके कुलधर्म कहकर तदनुसार वर्तन करनेवालेको ' व्रती ' संज्ञा दी। और उनमेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनके कर्म निश्चित कर दिये[1]।

वृत्ति शब्दका अर्थ—

इसप्रकार ब्राह्मणवर्णकी उत्पत्तिका विचार करनेपर उसके आगे—

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहितादूभेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ $\frac{४५}{१६}$

मनुष्य जातिमें पशुपक्षीके समान अनेक जातियां होती है। ऐसी कोईको शंका हो जाय तो वह निवारण करनेके लिये ' मनुष्यजातिरेकैव ' इस श्लोकके-द्वारा खुलासा करना पडा कि, मनुष्यजाति नामकर्मके उदयसे एकही है,

---

१ ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाःशस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥ ४६

उसमें पशुसमान अनेकता नहीं, तोभी जातिभेदसे अर्थात् जन्म, वृत्ति, आचरण चारित्रादि दृष्टीसे उसके चार भेद किये जाते हैं। इस तरह उस श्लोकका सरलतासे प्रकरणानुसार अर्थ होते हुये ' वृत्ति 'का अर्थ ' उपजीविका ' कर उसके उपजीविकाके भेदसे चार प्रकार होते हैं ऐसा कहते हैं। उनको ऐसा पूछा जा सकता है कि, क्या पशुमें उपजीविका भेदसे ऐसे भेद हो सकते हैं? पशुमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार स्वाभाविक संज्ञाके सिवा इतर आचारभेद देखनेमें आते नही। वह केवल मनुष्यमात्रमेंही हो सकते है इसलिये आचरण, कर्तव्य या वर्तन यही वृत्ति शब्दका अर्थ मानकर मनुष्यमें भेद मानना योग्य होगा। यह जानकरही आचार्योंनें—

तपःश्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते।
असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः॥ ४७

तप और श्रुतसेही जातिसंस्कार होना इष्ट है। वह जिसपर न होगा वह केवल जन्मसेही द्विज कहलावेगा। इसकेही आगे जाकर द्विज शब्दकी व्याख्या करते समय—

द्विर्जातो हि द्विजश्रेष्ठः क्रियातो गर्भतश्च यः।
क्रियामंत्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः॥ ४८

जो एकसमय गर्भ व दूसरे समय क्रिया (संस्कार) से जन्म लेता है वही द्विजश्रेष्ठ कहलाता है। जिसके क्रिया और मंत्र नहीं वह नाममात्रसेही द्विज होता है।

भव्यत्वका क्या चिह्न है ?—

लेखक प्रत्यक्ष इस प्रकार दो संस्कारकी आवश्यकता मानते नहीं। वे केवल सन्मार्गकी इच्छा करनेवाला और भव्य हो, वह दीक्षान्वय क्रियासे द्विज हो सकता है ऐसा मानते हैं। उनको पूछना है कि, क्या वह सन्मार्गेच्छु हो किन्तु भव्य है इसका ज्ञान कैसे हो सकता है? भव्यत्व और अभव्यत्व ये गुण आत्मनिष्ठ है। वे उसके केवल सदिच्छासेही जाने जा

सकते नहीं। फिर इसका ज्ञान क्या तर्कसे होता है ऐसा माना जायगा?

भरतचक्रवर्तीने जातिसंस्कार दृढ होनेके लियेही उपासकाध्ययन संग्रहमेंसे गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वयक्रिया और कर्त्रन्वय ये तीन क्रिया बतलाई हैं। वह क्रिया परस्पर छोडकर एकैक स्वतंत्र नहीं। उनमें परस्पर साहचर्य रखनाही पडता है। एकको छोडकर दूसरी क्रिया स्वतंत्र रूपसे बन नहीं सकती?

न्यायाचार्यजीको गर्भान्वयादि क्रिया मान्य है।

इसके आगे लेखक लिखते हैं कि, " उपर्युक्त तीन क्रियाओंमेंसे ब्राह्मणोंको गर्भाधान आदि निर्वाणपर्यंत गर्भाधान क्रियाका अनुष्ठान करना चाहिये। इसके बाद व्रतधारण करनेको दीक्षा कहते हैं। इसकेलिये जो क्रिया करनी पडती है वे दीक्षान्वयक्रिया कहलाती है। यह व्रत या दीक्षा धारण करनेकेलिये जो जीवकी तयारी होती है वह दीक्षावतार क्रिया है। इसकेलिये कोईभी मिथ्यात्वसे दूषित भव्य जीव जब सन्मार्गका ग्रहण करना चाहता है अर्थात् कोईभी अजैन जब जैन बनना चाहता है तब वह किसी योगींद्र या गृहस्थाचार्यके समीप जाकर प्रार्थना करे कि, हे महाप्राज्ञ! मुझे निर्दोष धर्मका उपदेश दीजिये। मैंने अन्यमतोंको निःसार माना है। वेदवाक्य सदाचार पोषक नहीं।" तब गृहस्थाचार्य उसको आप्त, श्रुत व श्रावकधर्मका स्वरूप समझाते है।

उपर्युक्त कथनसें गर्भान्वयादि क्रियाका उपदेश भरतचक्रीने दिया यह न्यायाचार्यजीको मान्य है। फिर वे क्रियायें आचार्यपरंपरासे चली हुई श्रीजिनसेनाचार्यने कही। इस क्रियाओंको ब्राम्हणोंने पश्चात् विपर्यास करके अपने शास्त्रोंमें लिखा होगा। जब ये क्रियायें खुद आदिभगवानने अपने पुत्रपर[१] की थी और द्वादशांग वाणीमें उपासकाध्ययन सूत्रमें उसका उल्लेख है और उस आधारसेही जब भरतने उस क्रियाका उपदेश दिया फिरभी वे

---

१ अन्नप्राशनचौलोपनयनादीननुक्रमात्। क्रियाविधीन्विधानज्ञः-स्रष्टैवास्य निसृष्टवान्॥ १६४।१५

क्रियायें श्रीजिनसेनाचार्यने ब्राह्मणोंसे लेकर उनका जैनीकरण किया ऐसा कहना कैसे बनता है? प्रत्युत ब्राम्हणोंनेही जैनक्रियाका विपर्यास कर ही अपने ग्रंथोंमें उसका उल्लेख किया ऐसा मानना योग्य होगा।

३८ वा पर्व द्विजोत्पत्तिकाही है।

दूसरी बात, यह ३८ वा अध्याय द्विजोंको मोक्षपद देनेवाली अडतालीस भेदवाली दीक्षान्वय क्रिया कही है।[१] इससे स्पष्ट है कि वे शूद्रोंके लिये नहीं। शूद्रोंकेलिये होती तो उसकाही स्पष्ट उल्लेख होना अवश्य था। शूद्र मोक्षके अधिकारी नही होते ऐसा जैनसिद्धान्त है।[२] जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुये है तथा नाचना, गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी उपजीविका करते है ऐसे पुरुषोंको यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंकी आज्ञा नहीं है। इस कथनसे शूद्रको केवल सदिच्छा मात्रसे ब्राह्मणत्वका संस्कार कैसे किया जा सकता है? अदीक्षार्ह कुल कौनसा मानना चाहिये? और नाचना, गाना और शिल्पसे कौनसे लोग उपजीविका करते है? बहुतसे शूद्रही शिल्पोपजीवि और नाचना, गाना करके पेट भरते है ऐसा आजही देखा जाता है। और जब उनको यज्ञोपवीतादि क्रिया या संस्कार करनेकी आज्ञा नहीं फिर बिनासंस्कार ब्राह्मण कैसे बन सकते है? एक तरफ व्रत धारण करनेको संस्कारकी अवश्यकता नहीं ऐसा प्रतिपादन कर दूसरे तरफ उसी संस्कार क्रियाका आधार लेकर उससे उनको अधिकारका प्रतिपादन करना ये परस्पर विरुद्ध है। न्यायचार्यजीका यह कथन आगम विरुद्ध और इस ग्रंथके पूर्वापार संबंधसे विरुद्ध है।

प्रवचनसारमें श्रीकुंदकुंदस्वामी जिनदीक्षा लेनेकेलिये उत्सुक जीव कैसा होता है यह चारित्राधिकारके तीसरी गाथामें लिखते हैं—

---

१ तं नत्वा परमं ज्योतिर्वृषभं वीरमन्वतः। द्विजन्मनामथोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु॥ ३॥ ३९

२ अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः। एतेषामुपनीत्यादि-संस्कारो नाभिसंमतः॥ १७०॥ ४०

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोसिट्ठमिट्ठिदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छमंचेदि अणुगहिदो ॥ ३

टीकामें श्रीअमृताचार्य लिखते हैं—

कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टम् ।

हिन्दी भावार्थ— जो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुवा है, उसकी सब लोक निःशंक होते हुए सेवा करते हैं, और जो उत्तम कुलोत्पन्न होगा उसके कुल-परिपाटीसेही क्रूरभावादि दोषोंका अभाव निश्चयसे होगा इससे कुलकी विशेषता होते हुये ही आचार्य होते हैं इत्यादि। इसमें कुलक्रमादि दोषरहित होनेवालाही कुलविशिष्ट कहलाता है। ऐसी कुलविशिष्टता जन्मपरंपरासे हिंसादि क्रूरकर्म करनेवाले शूद्रके होती है क्या? फिर वह जैनदीक्षाग्रहण-योग्य कैसा माना जाता है?

जैन बननेकी पात्रता—

अजैन जब जैन बननेकी इच्छा कर गृहस्थाचार्यके पास जाकर प्रार्थना करता है उस प्रार्थनाके शब्दोंपर विचार करनेसे उसके योग्यताकी कल्पना आती है। उसको पहले अन्यमतोंका ज्ञान होकर उसके गुणदोषका ज्ञान होना चाहिये। उसके साथ वेदविहित कर्म सभी मिथ्या है ऐसाभी उसको निश्चय होना चाहिये। जब इतना उसका बुद्धिविकास होगा तब वह दीक्षा ग्रहण करनेकी इच्छा कदाचित् कर सकता है। एक धर्म छोडकर दूसरा धर्म धारण करते समय दूसरे धर्ममेंभी कुछ अकाट्य नियम होते हैं। जो बुद्धिमान् है वह उसकाभी धर्मान्तरके समय विचार करताही है। जैनधर्ममें प्रवेश करनेके लिये प्रथम मद्यमांसमधुके त्यागकी अवश्यकता है। उसके बाद कुलशुद्धि-कीभी जरूरत पडती है। पुनर्विवाहादि व्यभिचारयुत कुल जैनदीक्षाकेलिये निषेधित है। इस सब बातोंका विचार करनेपर परंपरासे चले आये हुये व्यभिचारज दोष और मांसभक्षणादि दोष छोडकर दूसरा धर्म धारण करना

कोई सहज बात नहीं। न्यायचार्यजी सभीको मोक्षमार्ग सहज सुलभ कर देनेके शुद्ध हेतूसे इतने उतावले बने हैं कि, ये इतना बुद्धिविकास और आवश्यक नियमोंकी जरूर समझते नहीं। केवल वह सदाचारकी इच्छा प्रगट करनेसेही दीक्षार्ह बन सकता है, यह आश्चर्यकी बात है। मनुष्यस्वभावका सूक्ष्म अवलोकन करनेसे यह सिद्धान्त भ्रमात्मक मालूम होता है। ऐसा होता तो भरतजीको व्रतसंस्कार दृढ करनेकेलिये इन क्रियाओंका उपदेश देनेकी जरूरतभी नहीं पडती। आजकलके महापुरुष कहलानेवाले न्यायाचार्यजीके श्रद्धेय महात्मा गांधीजी अहिंसात्मक वैष्णव धर्मके कुलमें उत्पन्न हुये थे। और कुलपरंपरासे उनपर अहिंसाकेही संस्कार चले आये थे तोभी पाश्चात्य साहित्य या लोगोंकी संगतीसे एकबार मांस भक्षण करनेकेलिये तयार हुये थे तो क्या वंशपरंपरागत मद्य, मांस भक्षण करनेवाला पुरुष एक क्षणमें सदाचार संपन्नकी प्रतिज्ञा करनेपर वह उस प्रतिज्ञापर दृढ रहनेकी कोई खतिर दे सकता है? यह केवल आजकलके प्रभावसे महान् पण्डितभी अपने आगमका सागोपांग मनन न करते हुये या मनन करकेभी अपने पुष्टिके लिये जैनशास्त्रोंमेंभी स्पृश्यास्पृश्य भेद नहीं, जातिभेद नहीं, वह ब्राह्मणोंके संसर्गसे पीछेसे उसमें कोई आचार्यने घुसड दिया है ऐसा प्रतिपादन कर रहे है। इस प्रकारका प्रचार करनेसे सर्वसामान्य लोकोमें आगम ग्रंथसंबंधी भ्रम उत्पन्न हो जाता है यह दैवदुर्विलास है।

परंपरागत पापकर्मके उदयसे शूद्र योनि प्राप्त होती है ऐसा जैन आगम कहता है। भगवानने अवधिज्ञानसे उनकी न्यग्वृत्ति (नीचवृत्ति) जानकरही कर्मभीमांसासे उनका शूद्रवर्ण ठहराया। लेखकको कर्ममीमांसा मान्य हो तो उसके अनुसार बुद्धिपर संस्कार होते हैं यह मानना पडेगा। वे वैसा मानते हैं या नहीं यह समझनेका कोई मार्ग नहीं। वे केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे इस पुराणकी या धर्मग्रंथकी परीक्षा करते हो तो उनको उत्तर देना व्यर्थ होगा।

जैन संस्कृतिका अर्थ

न्यायाचार्यजी स्पर्शास्पर्शका जैन संस्कृतीसे कोई संबंध नहीं ऐसा कहते हैं । इसलिये जैन संस्कृति शब्दका क्या अर्थ है यह देखना चाहिये। संस्कृति शब्दका 'सम्यग् आचार' अर्थात् सदाचार यही अर्थ माना जाता है । सदाचार याने मद्यमांसमधुरहित शुद्ध आहार और पंचमहापापोंसे दूर रहना याने जिस कुलपरंपरामें यह क्रिया चालू रहती है वह सदाचारी कहलाता है । जब परंपरा आहारशुद्धि पालना यही जैन संस्कृतिका अर्थ माना जाय तो परंपरासे मांसभक्षण करनेवाले और पंचपातकोंको परंपरासे करते आये लोगोंके साथ भोजनपानादि करनेसे क्या अहिंसाप्रवृत्त लोगोंका सदाचार कायम रह सकता है ? संगतिका बडा प्रभाव है यह बालपनेसे प्राथमिक शालाओंके पुस्तकोंमें हम पढते आये हैं । जब संगतिका कुछ असर पुरुषके मनपर न होता तो दुष्ट या चोरोंके संगतिसे अपने बाल-बच्चोंको बचानेका पिताको कुछभी प्रयत्नकी अवश्यकता नहीं पडती । किन्तु व्यवहारमें ऐसा देखा जाता नहीं । कुसंगतीसे स्वयं और अपने बालबच्चे सभी बचाये जाते हैं । इतना नहीं किन्तु सरकारभी ऐसे संगतिसे लोगोंका बचाव करनेकेलिये प्रयत्न करती है । जैनकुलमें अहिंसाका इतना प्रभाव है कि कोई जीवकी हत्या सुनकर इनके अंगपर रोमांच खडे हो जाते हैं । बलिदानकेलिये जब मिथ्यामति लोग पशु बाजेगाजेके साथ स्थंडिलपर ले जाते हैं उसी वखत जैनोको परिणामोंमें उन पशुका आवाज सुननेसे जो परिणाम होते हैं उसका हरेक जैनको अनुभव है । होटेलमें खानेवालेके साथ आजकल जो लोग घृणा मानते नहीं इसका कारण उनकी दृष्टिमें हर हमेशा मांसमिश्रित पदार्थ देखनेसे मनकी कोमलता नष्ट हो चुकी है । सारांश, संगतिका फल मनपर हुये बिना रहता नहीं यह अटल सिद्धांत है ।

निम्नलिखित श्लोक अप्रकरणात्मक है क्या ?

"कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।" यह श्लोक टीपणीसें लिया हुवा है । इसी तरह

शालिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलन्तुदः।
नापितश्चैव पंचामी भवन्ति स्पृश्यकारवः॥
रजकस्तक्षकश्चैवायस्कारो लोहकारकः।
स्वर्णकारश्च पंचैते भवन्त्यस्पृश्यकारवः॥

ये दो श्लोक मराठी महापुराणमें दिये हैं। इस ग्रंथमें दिये नहीं। इसका कारण जैन परंपरासे इसका कोई मेल नहीं ऐसा लेखकका मत है।

जब इसके पूर्व श्लोकोंमें भगवानने षट्कर्मसे उपजीविका करनेका मार्ग बताया और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्ण स्थापित कर उनके गुणानुसार शस्त्र, वाणिज्य और सेवा ऐसे तीन प्रकार बता दिये। इसमें शूद्र सामान्यका भेद बताकर विशेष रूपसे उसके कारु और अकारु कहे और कारु अकारुमेंभी स्पृश्य अस्पृश्य भेद किये। उसमेंभी अस्पृश्यको प्रजा-बाह्य और नाई आदिको स्पृश्य बताया (देखिये श्लोक १८३-१८४-१८५ और १८६ सोलहवा पर्व) इसके आगे

यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजादध्युरसंकरम्।
विवाहजातिसंबंध व्यवहारश्च तन्मतम्॥ १८७।१६
यावती जागति वृत्तिः अपापोपहता च या।
सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः॥ १८८

इस श्लोकका अर्थ-उस समय प्रजा अपने अपने योग्य कर्मोंको यथा-योग्य रूपसे करती थी। अपने वर्णकी निश्चित आजीविकाको छोडकर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था। इसलिये उनके कार्योंमें कभी संकर (मिलावट) नहीं होता था। उनके विवाह जातिसंबंध और व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान आदि नामके आज्ञानुसारही होते थे। उस समय संसारमें जितने पापरहित आजीविकाके उपाय थे वे सब भगवान् वृषभदेवकी संमतिसे प्रवृत्त हुये थे सो ठीक है। क्योंकि सनातन ब्रह्म भगवान वृषभ देवही है।

इस अर्थका विचार करनेसे जब भगवानने शूद्र वर्णकी स्थापना की और उनकी न्यग्वृत्ति (नीचवृत्ति) बतलाई तब कालदोषसे कुछ लोगोंमें हिंसात्मक प्रवृत्ति होती थी यह स्पष्ट है। नहीं तो भगवानको उस के आगेके १८८ श्लोकमेंही "उस समय जितने पापरहित आजीविकाके उपाय थे वे भगवान् वृषभदेवके संमतिसे प्रवृत्त हुये थे। क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवही थे"। इस उक्तिसे कुछ नीचवृत्तिसे उपजीविका करनेवाले जीव थे, उनको टालकर पापरहित आजीविकाका उपायका उपदेश देकर उनकी वृत्ति नियमित करना अवश्य पडा।

जब इसतरहकी नीचवृत्तिका स्वीकार कर साक्षात् हिंसासे उपजीविका करनेवालेको या स्वभावत: न्यग्वृत्तीके तरफ जिनकी प्रवृत्ति है उनका एक वर्ग या वर्ण 'शूद्र' नामसे निर्माण करना पडा। और उनमेंसे विशेष भेद हिंसानुसार स्पृश्य अस्पृश्यादि करने पडे। यह उल्लेख अप्रकरणानुसार कैसा माना जायगा? जब प्रत्येक वर्णके कर्म निश्चित कर दिये तब हिंसासेही सदैव संबंध रखनेवालेको या उसीसेही आजीविका करनेवालेको प्रजाबाह्य रखनेकाही नियम करना पडा। अहिंसा पालन करनेवालेके हृदयमें दयाका जितना अंश उत्पन्न होता है और पूर्ण अहिंसाके हृदयपर पहुंचनेकेलिये याने मोक्षकेलिये उस दयाका पूर्ण परिपाक होनेकेलिये ऐसे क्रूर और नीच कर्म करनेवाले जीव सामान्य द्विजलोगोंके परिणाम शुद्धिकेलिये उनको अलग रखना अवश्यही था।

दक्षिण देशमें ब्राम्हणोंसे संघर्ष हुवा क्या?

इसके आगे न्यायाचार्य ग्रंथ समीक्षण करते समय "दक्षिण देशमें ब्राह्मणधर्मसे जो भीषण संघर्ष हुवा वह इतिहास प्रसिद्ध है"। ऐसा लिखते है। सो यह संघर्ष कहां किस क्षेत्रमें हुवा इसका उल्लेख न्यायाचार्यजीने किया नहीं। उस समय दक्षिणमें अनेक आचार्य हुये हैं और अमोघवर्ष जैन राजाभी उपलब्ध थे। ऐसी अवस्थामें दूसरे कोईभी आचार्य इस संघ-

र्षका उल्लेख करते नहीं। खुद अमोघवर्ष राजानेभी 'कविराजमार्ग' और 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' नामके दो ग्रंथ संपादित किये हैं। उन्होंने इस संघर्षका उल्लेख किया नहीं। खुद महापुराणमेंभी इसका उल्लेख नहीं। प्रत्युत ब्राह्मणधर्मपर अनेक आक्षेप किये हैं ऐसी अवस्थामें ब्राह्मणधर्मके संघर्षके कारणही महापुराणकार प्रभावित होनेका प्रश्न उठाना अवास्तव है। यह प्रमाण केवल न्यायाचार्यजीको अस्पृश्यता मूलमें नहीं थी यह दिखानेकेलियेही मनोकल्पित उठाना पडा है। फिर ब्राह्मणोंका द्वेष क्या महापुराणकालके समयमेंही था? इतके पूर्व स्वामी समंतभद्र या दूसरे आचार्यके समयमें नहीं था? श्री अकलंक स्वामीके समय बौद्धोंका प्रभाव क्या कम था? किन्तु उनके ग्रंथमें कहाभी उस संघर्षके संबंधमें अवाक्षरभी लिखा हुआ पाया नहीं जाता। जैनाचार्योंको अपना तत्वविचारही लोगोंको समझाना था। इसलिये वे अपनी परंपरा छोडकर दूसरे कौनसेभी तत्वसे प्रभावित न होते हुये सर्वज्ञप्रणीत धर्ममार्गकी या तत्वज्ञानकी परंपरा चलानाही अपना उद्दिष्ट समझते थे। वे तत्कालीन कौनसेही संघर्ष या मतांतर अपने मनमें लाते नहीं थे। वे निर्भयतासे सर्वज्ञके तत्त्वविरुद्ध जो मतमतांतर प्रचलित थे उसका खण्डन करते थे। उनका मन हमारे जैसा क्षुद्र या भीषण संघर्षसे चलायमान होकर अपने तत्वविरुद्ध प्रतिपादन करनेमे उद्युक्त नहीं होता था। तभी तो आजतक सर्व मतोंसे अधिक एकवाक्यता जैनऋषियोंमें प्रतीत होती है। नहीं ऋषिके यों तो हजारों हजारों मत जैनोंमेंभी होनेसे थोडेही रोके जाते थे? इस दृष्टीसे विचार करनेपर इतिहास दृष्टीसे महापुराणका विचार करके उसपर वाङ्मय चौर्यका आरोपण करना साक्षात् उनका अपमान प्रदर्शित करना है।

जन्मना कर्मणा वा ?

प्रास्ताविकके पेज ११ पर न्यायाचार्यजीनें लिखा है " आदिपुराणमें क्वचित् स्मृतियोंसे और ब्राह्मणव्यवस्थासे प्रभावित होनेपरभी वह सांस्कृतिक

तत्व मौजूद है जो जैन संस्कृतिका आधार है। वह है अहिंसा आदि व्रतों अर्थात् सदाचारकी मुख्यताका। इस कारणही कोईभी व्यक्ति उच्च और श्रेष्ठ कहलाती है "। इसके प्रमाणमें यह श्लोक दिया है।

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥

अर्थात्– जातिनाम कर्मसे उत्पन्न हुई मनुष्यजाति एकही है। तथापि आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो जाती है।

साहित्याचार्यजीने इस श्लोकके 'वृत्ति' शब्दपर नीचे टिपणीमें 'वर्तन' यह पाठभेद या अर्थ लिखा है। इससे वृत्तिका अर्थ वर्तन, कर्म या क्रिया ऐसा कोई मानते है ऐसा स्पष्ट है। अनुवादमें उन्होने आजीविकाही अर्थ लिखा है।

उपर्युक्त श्लोकके आगले ४६ वे श्लोकमें चातुर्विध्यका अर्थ स्पष्ट किया है। आसिमसीत्यादि उपजीविकाके साधन पहलेही बताये है। इस ३८ वे अध्यायमे राजा भरतने ईज्या, वार्ता आदि षट्कर्मका उपदेश देकर वह कर्मको कुलधर्म कहा है। इस कुलधर्मके पालनेवालोंकी आजीविका पापरहित होती है इसलिये उनकी जाति उत्तम कहलाती है। ऐसा वर्णन करही ४५ वे श्लोकमें मनुष्यजातिके वृत्तिभेदसे या ईज्यादि षट्कर्मसे चार भेद होते है ऐसा कहा है। इसलिये यहांपर वृत्तिका अर्थ कर्म, क्रिया, वर्तन ऐसाही लेना योग्य है।

यहापर 'वृत्तिभेदाहितात्' का अर्थ पूर्वापार श्लोक एकत्रित कर देखनेसे केवल आजीविका भेदसेही चार भेद होते है ऐसा मानना उचित नहीं। भगवानने प्रथमतः उपजीविकाका मार्ग बताया, फिर गुणानुसार वर्ण-स्थापना की, अर्थात् वर्णानुसार उनकी वृत्ति निश्चित कर दी ऐसा स्पष्ट मालूम होता है।

इसकेलिये ३८ वे पर्वके २४ वे श्लोकसे लेकर ४९ वे श्लोकतक देखनेसे उसका खुलासा होगा। उस श्लोकका अर्थ उसी ग्रंथके अनुवादसे इस प्रकारके है।

'भरतने उन्हें उपाध्ययनांगसे इंज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया। २४

यह इनका कुलधर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय अर्हत्पूजा आदिका वर्णन किया। २५'

आगे पूजा, वार्ता आदिका खुलासा ४१ वे श्लोकतक करके ४२ वे श्लोकमें यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विशुद्धवृत्ति (कर्म) इन द्विजोंको करने योग्य है। जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नामसेही द्विज है, गुणसे नहीं। ४२

तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण है। जो मनुष्य शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसेही ब्राह्मण है। ४३

इन लोगोंकी आजीविका पापरहित है। इसलिये इनकी जाति उत्तम कहलाती है। तथा दान, पूजन, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति सुसंस्कृत हो गई है॥ ४४

इतना वर्णन करनेके बादः—

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ ४५

यह श्लोक दिया है। इसके आगे चातुर्विध्यका खुलासा करते है।—

व्रतसंस्कारोंसे ब्राह्मण, शस्त्रधारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन संपादन करनेसे वैश्य और नीच वृत्तीका आश्रय करनेसे शूद्र कहलाते है॥ ४६

इसलिये द्विजजातीका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससेही माना गया है। परन्तु तपश्चरण और शास्त्राध्ययनका जिसका संस्कार नहीं हुवा वह जातिमात्रसेही द्विज कहलाता है॥ ४७

जो संस्कार गर्भसे और दूसरीबार क्रियासे इस प्रकार दोबार उत्पन्न हुवा हो उसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते है। परंतु जो क्रिया और मंत्र दोनोसेही रहित है वह केवल नाम धारण करनेवाला द्विज है॥ ४८

इसलिये इन द्विजोंकी जातिसंस्कारको दृढ करते हुये सम्राट भरतदेवने द्विजोंकेलिये वृत्ति अनुसार समस्त भेद कहे ॥ ४९

उपर्युक्त श्लोक सूक्ष्मदृष्टीसे देखनेसे ३८ वे पर्वमें द्विजोंकी उत्पत्तीकाही वर्णन है। शूद्रका नहीं। तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीनही ब्राम्हण होनेके कारण बताये है। और ब्रह्मर्षि भरतने वही संस्कार दृढ होनेकेलिये उपदेश दिया है। जिसपर वैसे संस्कार होते नहीं या किये जाते नहीं वे केवल जन्मसेही द्विज कहलाते है। गुण या क्रियासे नहीं। ऐसा स्पष्ट उल्लेख होनेसे शूद्रको द्विज होनेका विधान किया गया नहीं। जो एकबार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुवा हो वही द्विज कहलाता है। गर्भ याने जन्मको महत्व न देकर केवल आचार परही जोर देकर किसीको भी द्विज बनाना चाहते है। उपर्युक्त श्लोकमें 'जाति' शब्द सात बार आया है और उसका क्या अर्थ होता है वह वाचक जान लेवे। जन्मसेही जाति मानी जाती है कर्मसे नहीं यह उपर्युक्त श्लोकसे सिद्ध होता है।

विद्वानोंने किसीभी शब्दका मुख्यार्थ वाक्यसे सुसंबंध हो तो वह मुख्यार्थ छोडकर लक्षणासे उसका दूसरा अर्थ करना यह मीमांसा दृष्टीसे बडा दोष माना है। इस दृष्टीसे विचार करनेपर 'मनुष्यजातिरेकैव' श्लोकका अर्थ लगावे और उसमें पडा हुवा 'वृत्ति' शब्दका अर्थ क्या होता है सो देख ले।

भगवानने सर्व प्रथम भूखी प्रजाकेलिये असि, मषि, कृषि, आदि षट्कर्मका उपाय बताया था। फिर वर्ण और आश्रमकी स्थापना की अनंतर वर्णानुसार उनके ईज्यादि कर्म नियत कर दिये। पश्चात् मनुष्यजाति नाम कर्मका उल्लेख किया। कोई अज्ञ पुरुष तिर्यंच जातिके समान मनुष्य

जातिके भेद समझे उसका खुलासा करनेकेलिये 'वृत्तिभेदात्' अर्थात् वर्णस्थापनानुसार जो वृत्ति नियम कर दी उसी तरह उसके चार भेद होते है ऐसा कहा।

राजा भरतने २४ वे श्लोकमें उपाध्ययन सूत्रसे इंज्या वार्ता आदि षट्कर्मोंका उपदेश दिया और ये षट्कर्म उनका कुलधर्म है अर्थात् ये क्रियायें परंपरासे जहां चली आती है उसीको कुलधर्म कहते है और उसी छह कर्मका सविस्तर स्वरूप कहा। और इस प्रकारकी विशुद्धवृत्ति द्विजोंको करना अवश्य है। वह जो नहीं करता वे मूर्ख नाममात्रसे द्विज है ऐसा कहा है। इस परसे राजा भरतने कुलपरंपराविशुद्धि रखनेकेलिये उपर्युक्त ईज्या-दिक क्रियाकी अवश्यकता प्रतिपादन की और जो वह क्रिया कुलपरंपरासे करते आये उनकोही ब्राह्मण कहा। वे क्रिया जो करते नहीं वे केवल जाति मात्रसे ब्राह्मण कहलाते हैं ऐसा स्पष्ट बताया है। राजा भरतने वैसी क्रिया न करनेवाला शूद्र होता है ऐसा कहा नहीं। इस परसे जन्मना जाति है कर्मणा नहीं यह स्पष्ट है।

न्यायाचार्यजीको कुलपरंपरा क्रियाकी अवश्यकता नहीं। जिन लोगोंमें (शूद्रमें) इज्यावार्तादि षट्कर्म परंपरासे चले आये नहीं वे द्विज होनेके लायक नहीं यह उपर्युक्त श्लोकोंका भावार्थ हैं।

सज्जातित्वका अर्थ

न्यायाचार्यजी अपने प्रास्ताविक पेज १० पर सज्जातिकी चर्चा करते-समय लिखते हैं—

" सज्जातिकी प्राप्ति आसन्नभव्यको मनुष्यजन्मके लाभसे होती है। वह ऐसे कुलमें जन्म लेता है जिसमें दीक्षाकी परंपरा चलती आई है। पिता और माताका कुल और जाति शुद्ध होती है अर्थात् व्यभिचार आदि दोष नहीं होते। दोनोंमें सदाचारका वर्तन रहता है। इसके कारण सहजही उसके विकासके साधन जुट जाते हैं। यह सज्जन्म आर्यावर्तमेंही विशेष रूपसे

सुलभ है। अर्थात् यहांके कुटुंबोमें सदाचारकी परंपरा रहती है।

दूसरी सज्जाति संस्कारकेद्वारा प्राप्त होती है। वह धर्मसंस्कार व्रत संस्कारसे प्राप्त होकर मंत्रपूर्वक व्रतचिह्नको धारण करता है। यह इस तरह विनायोनिजन्म सद्गुणोंको धारण करनेसे सज्जातिभाक् होता है।

उपर्युक्त कथनका वाचक शांतचित्तसे विचार करें। सज्जातित्वकेलिये पहिले प्यारेमें सदाचार, कुलपरंपरा, जन्म इसका तो वर्णन शास्त्रानुसार लिखा है। किन्तु दूसरे प्यारेमे जो सज्जातिभाक्का वर्णन है उसको क्या आधार है। आदिपुराणमे तो वही देखनेमे आता नही। फिर वह सज्जाति न्यायाचार्य-जीने अपनी कल्पनासेही मानली है ऐसा मानना पडेगा।

न्यायाचार्यजी किसीकोभी व्रतसंस्कारसे द्विज होना मानते है। द्विज शब्दका गर्भ और मंत्र ये दो जिसके हो उसकोही द्विज या द्विजन्मा शास्त्र कारोंने कहा है। न्यायाचार्यजीके वचनानुसार केवल व्रत या मंत्रसंस्कारसेही द्विज हो नहीं सकता। तो क्या द्विजत्वकी उनको कोई अपेक्षा नही ऐसा समझना चाहिये? केवल सदाचारकी इच्छा या मंत्रसंस्कारसे द्विजत्व मानना आगम विरुद्ध है।

जन्मसेही जाति है।

जाति नामकर्मसे यद्यपि मनुष्यजाति उत्पन्न हुई और वही भिन्न भिन्न आचारोंसे चार प्रकारकी मानी गई। इसमें सामान्यविशेषका भेद है। मनुष्यजाति सामान्य और उसीके क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि चार वर्ण विशेष जातिरूपसे कहे गये। सामान्यको छोडकर विशेष रहते नही। व्यवहारदृष्टिसे ऐसे भेद प्रत्येक पदार्थमे किये जाते है। यह परिपाटी जानते हुयेभी जाति नामक एक अलग चीज पीछेसे निर्माण की गई वह आदिभगवान्के समय नहीं थी। ऐसा कहना अयथार्थ है। वर्ण और जाति एकार्थवाचक शब्द माने जाते है। कहींपर जातिका वर्णके नामसेभी व्यवहार किया गया है। श्रीजिनसेनस्वामीने—

द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः ।
क्रियामंत्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥ ४४/३८

इस श्लोकमें क्रियाके साथ गर्भको–जन्मकोही मुख्यता दी है। लेखकके मतसे जन्म कहाभी होवे उसे सदाचार प्रवर्तनकी इच्छा हुई और वह भव्य हो तो व्रत लेनेका अधिकारी बन जाता है। यह कथन आगमविरुद्ध है। गिरगिट अपना रंग दिनभरमें बार बार बदलता रहता है वैसा कोईभी पुरुष, वह पूर्वमें पापक्रिया या हिंसा करता हो, या व्यभिचारज कुलमें उत्पन्न हो, वह एकाएक द्विज हो सकता है। प्रातःकालमें ब्राह्मण, संध्यासमय वैश्य, माध्याह्नकालमें क्षत्रिय और लोकसेवा करनेवाला सायंकालमें शूद्र हो जाता है। उसको पूर्वपरंपराकी, सदाचारमें चिरकाल प्रवर्तन करानेवाले संस्कारकी, शुद्धअशुद्ध कुलकी, अभक्ष्यभक्षणकी और ग्राह्याग्राह्य विचार करनेकी जरूरत नहीं है। स्वर्गीय ब्र. शीतलप्रसादजी जब पुनर्विवाहका प्रचार और समर्थन करनेकेलिये उद्युक्त हुवे तब वे समाज और धर्म परस्पर भिन्न है ऐसा प्रतिपादन करने लगे वैसाही यह प्रकार है।

संस्कारोंका महत्त्व

न्यायाचार्यजीके मतानुसार गुणकर्मसे जाति मान ली जाय तो संस्कारकी अवश्यकता रहती नहीं। जैन शास्त्रकार और वैदिक शास्त्रकारोंनेही संस्कारका महत्त्व माना है। अनेक पीढियोंसे अहिंसा संस्कारसे चलता हुवा अहिंसावादी पुरुष आज पाश्चात्य संगतिसे अभक्ष्य भक्षणमें तत्पर हुवा देखा जाता है। फिर जिसकी अनेक पीढिया हिंसाकर्म करनेमें चली गई ऐसा कोई पुरुष क्वचित् (अहिंसा) सदाचार प्रवृत्त हुवा तोभी वह सदाचार या अहिंसा-प्रवृत्ति चिरकाल बनी रहनेमें क्या प्रमाण है? जैनशास्त्रकारने गर्भान्वय क्रियासे दीक्षान्तक्रियातक ५३ क्रियाका संस्कारका वर्णन किया है। इसका कारण गर्भसेही अहिंसाके संस्कार शुरू किये जाय तब कहीं जीवमें व्रतधारण करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। फिर जिसपर कुछभी संस्कार नहीं और उनकी

अवश्यकताभी मानते नहीं उस जीवका मतपरिवर्तन चिरकाल रहेगा ऐसी खातिर कौन दे सकता है ?

भगवान् तीन–ज्ञानी थे ।

यहांपर और एक बात विचार करने योग्य है। वह यह है कि श्रीआदिभगवान्ने तीन वर्ण अवधिज्ञानसे विदेहक्षेत्रकी व्यवस्था जानकर निर्माण किये यह लेखक मान्य करते हैं। अर्थात् भगवानको अवधिज्ञान था यह भी उनको मान्य है ऐसा मानना पडेगा। अवधि और मनःपर्यय ज्ञानको शास्त्रकारोंने विकलपारमार्थिक कहा है। अर्थात् वह इंद्रियां और मनके सहायकी जब अपेक्षा करता नहीं तब उस कालमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके परिणामका ज्ञानभी उनको था ऐसा मानना पडेगा। उस अवधिज्ञानसे उन्होने हरेक जीवोंके परिणामोंकी शुद्धता अशुद्धताको जानकर, जीवोंके परिणामोंकी शुद्धता इतने अंशतक पोहोंचनेवाली है उससे ज्यादा नहीं, ऐसा जानकर जो शूद्रवर्णकी स्थापना की हो तो वह अवास्तव कैसी मानी जायगी ? यह वस्तुस्वभावके निर्णयका मूलभूत प्रश्न है। वह परोक्षज्ञानी जीव कैसे जान सकते है ? लेखक अपने तर्कज्ञानके बलपर मनुष्य एक अतएव समान मानते हो तो भी उनका ज्ञान विकलपारमार्थिक तो नहीं ही। वे परोक्ष अर्थात् इंद्रियाधीन ज्ञानी है। इसलिये अत्यंत सूक्ष्म ऐसे मनःपरिणतिका ज्ञान पा नहीं सकते। यह सैद्धांतिक सूक्ष्मभेद सामान्य लोगोंके बुद्धिमें उतरना कठिण है। उनकेलिये वर्तमानकालीन प्रचारके जोरपर प्राचीन ऋषिप्रणीत और गणधर कथित आर्षमार्गपर हल्ला चढाते हुये उस मार्गमें दोषारोप करके जनताका बुद्धिभेद करना योग्य नहीं।

वर्णव्यवस्थारहित राष्ट्रमेंभी परंपराका संरक्षण

जिस राष्ट्रमें वर्णव्यवस्था मानी नहीं जाती वहांभी विशिष्ट परंपराका आग्रह आजभी कायम है। इसका उदाहरण हालही इंग्लंडमें राजघरानेमें हुवा सो आपने जाना या सुनाही होगा। आज इंग्लंडकी इलिजा-

बेथ रानीकी बहन मिस् मार्गारेटका विवाह ग्रूप कॅप्टन टंडन शेडके साथ होना था। टंडन शेडने अपने पहले पत्नीसे घटस्फोट किया था। इंग्लंडके राजकुलमें ऐसे विवाहका धर्मशास्त्रने निषेध किया है। इसलिये इस विवाहको उनके धर्मगुरुका (बिशपका) विरोध था। इस विषयमें वहांके पार्लमेंटमें (लोकसभामें) बहुतसी चर्चा हुई। और यह पुराना कानून बदलकर आजके परिस्थित्यनुसार दूसरा कानून बनना चाहिये। उसके सिवा राजघरानेके स्त्रीपुरुष ऐसा विवाह कर नहीं सकते। ऐसा निर्णय किया। मार्गारेट बाईने अपने कुलाचारकी मर्यादा पालन करनेकेलिये यह प्रीतिविवाह करना नामंजूर किया। इस बाबत वे स्वयं ऐसा खुलासा करती है सो वाचक ध्यानपूर्वक पढ ले। वे कहती है—

" दूसरे किसीका मेरे मनपर दबाव लानेसे मैंने यह निर्णय लिया नहीं। खिस्तीधर्ममें विवाह संस्कारको जो महत्त्व दिया है उससे हमारा विवाह अविच्छेद्य माना गया है। वही सदाचार श्रेष्ठ है ऐसा मैं मानती हूं इसलिये मैंने मेरे शुद्ध मनसेही यह निर्णय लिया है। "

परंपरागत पुनर्विवाह करनेवाले देशमें, जहां कुलशुद्धि आदि देखनेकी आवश्यकता नहीं वहांभी राजकुलकी मर्यादाके संरक्षणके लिये वहांके लोकसत्ताक प्रजाने उस विवाहको संमति देना अस्वीकार किया। फिर भरतक्षेत्रमें जहां पारमार्थिक हितके (आत्मकल्याणके लिये) कुलशुद्धि, गोत्रशुद्धि, आचारशुद्धि, भोजनपान शुद्धि आदि अनेक प्रकार शास्त्रकारोंने आवश्यक समझकर परंपरासे उसका रक्षण करनेके लिये उपदेश दिया वहां दिनमें चार स्वरूप धारण करनेवालेको मोक्षप्राप्तिकी पात्रता आती है ऐसा बडे विद्वानोंने निःसंदिग्ध मानना यह आश्चर्य न होकर कालप्रभाव माननाही ठीक होगा।

जाति शब्दका विपर्यास

" मनुष्यजातिरेकैव " इस श्लोकमें जो ' जाति ' शब्दका अर्थ,

सांप्रत जो अनेक जातियां विद्यमान हैं उसीको अनुलक्ष्यकर उतनी या ऐसी जातिया भगवंतने कही नहीं थी। अर्थात् वे जातियां पीछेसे उत्पन्न होगई हैं ऐसा कोई मानते हैं।

श्लोकमें जाति शब्दका यह अर्थ आचार्योंको अभिप्रेत नहीं। जाति अर्थात् जन्म। जातिनाम कर्मोदय इसका हेतुभी उसी श्लोकमें बताया है। पशुपक्षीके समान मनुष्यमें अलग अलग अनेक प्रकार होते हैं ऐसी कोईको शंका न रहे इसलिये आचार्यने मनुष्य जन्मका एकही प्रकार है ऐसा कहकर उसी मनुष्य जातिमें चार प्रकार होते है उसीकोभी जाति शब्दसे संबोधा है। तथा वृत्तिभेदसे उन्हें वे नाम दिये गये हैं।

जातिकी उत्पत्ति

वेदसंस्कृतिसे जातिव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसके पूर्व जातिका अस्तित्व नहीं था। ऐसा माननेके लिये क्या आधार है। क्योंकि आचार्य अपने ग्रंथकी परंपरा प्राचीन कालसे प्रचलित है इसलिये यह ग्रंथ 'पुराण' कहलाता है। प्राचीन कवियोंके आश्रयसे इसका प्रसार हुवा है इसलिये इस पुराणकी प्राचीनता प्रसिद्ध है।

पुरातनं प्रमाणं स्यात् तन्महन्ममहदाश्रयात् ॥ २१।१
कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृत्वातत् पुराणता ॥ २२।१

ऐसा ग्रंथकार कहते हैं। इससे वर्णव्यवस्था या जातिव्यवस्था वेद संस्कृतिसे ली गई यह कहना ठीक नहीं।

आदि भगवंतने अवधिज्ञानसे विदेहक्षेत्रकी व्यवस्था जानकर यहांपर वैसी रचना की है। वहां त्रिवर्ण मौजूद है। सदाकाल मोक्षमार्ग चालु रहनेसे वहांपर दीक्षाविधिभी होती है। मुनियोंकी आहारशुद्धि मूलाचारग्रंथके समान रखनी पडती है। वहां विवाहसंस्कारभी होता है। यह सभी विषयोंको जानकरही भगवानने यहापर वैसी व्यवस्था की। वहांपर आजीविकाभी करनी पडती होगी। उसीके लिये.षट्कर्मकाभी नियमन कहा

होगा। और वर्णाश्रम व्यवस्थाभी होगी। साथमें विवाहकाभी नियमन कर दिया था। कालान्तरमें उन उन जातियोंमें अपने वर्णका उल्लंघन करनेसे जो प्रजा उत्पन्न हुई, उससे अनेक अलग अलग जातियां प्रगट हुई। उसे व्यवहारमें 'जाति' शब्दका प्रयोग होने लगा।

विदेह क्षेत्रमें जातियां नहीं ऐसा कोई आधार लेखकने दिया नहीं। उन्होंने श्रुतिस्मृतियोंका आधार देकर वेदकालमें जातियां नहीं थी। वह स्मृतिकालमें ब्राह्मणके वर्चस्वसे उत्पन्न हुई ऐसा अजैनिक प्रमाण देकर उसका अनुकरण श्रीजिनसेनाचार्यने किया ऐसा कहा है। सो क्या अन्य-मतके ग्रंथप्रमाणोंसे हमारा सिद्धांत प्रमाण अप्रमाण मानना चाहिये?

विदेह क्षेत्रमें जातियां हैं।

इसका प्रमाण उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लोक ४९४।४९५ में मिलता है।

अच्छेदो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंततेः।
तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसंभवात्॥ ४९४
शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात् काले तज्जातिसंततिः।
एवं वर्णविभागः स्यात् मनुष्येषु जिनागमे॥ ४९५

अर्थ– विदेह क्षेत्रमें मोक्ष जानेयोग्य जातिके संतानका कभी नाश नहीं होता। क्योंकि मोक्षके कारणभूत नामगोत्रादिसहित जीव व्यवधान-रहित सदा बने रहते हैं। शेष भरत ऐरावत क्षेत्रमें चौथे कालमेंही जातिकी संतान होती है, शेषकालमें नहीं। जैनशास्त्रमें वर्णविभागका इसप्रकार निरू-पण किया गया है। उक्त प्रमाणसे जातिकी उत्पत्तिका खुलासा होता है।

प्रार्थना

पं. न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजीको आपसे हमारा दृष्टिकोन भिन्न है। आपको अपने दृष्टिकोनके विषयमें लिखनेकी हमने प्रार्थना की थी परंतु

आपने उसका स्वीकार नहीं किया। जब आपकी दृष्टि आगमसे भिन्न ही है तो हमारा कुछभी लिखना फिझूल है।

जब न्यायाचार्यजी महात्मा गांधी और उनके गुरूके प्रभावमें आगये ऐसा स्वयं लिखते है तब आचार्य श्री समंतभद्रादीने

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्नचान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥

यह जो सम्यग्दर्शनके निःशंकितांगका लक्षण बनाया है वह ठहरता नहीं। उनके अनुयायीके लिए सम्यक्त्वका दूसराहि लक्षण करना पडेगा। यह एक बडी आपत्ति होगी।

धनकुबेर श्री शान्तिप्रसादजी साहबसे प्रार्थना है कि, आप जब जिनवाणी माताका उद्धार करनेके लिये अपने द्रव्यका सदुपयोग कर रहे है, साथ साथ सर्व व्यापक दृष्टिसे वैदिक संस्कृति और बौद्ध संस्कृतिकाभी उद्धार कर रहे है। आपके इस व्यापकदृष्टिका अभिनन्दन करना योग्य है। प्रार्थना यह है कि, अनुवादक अपनी प्रस्तावनामें जो कुछ आचार्य परंपराके विरुद्ध टीका करते हैं वह न करके केवल मूल संस्कृत अनुवाद यथार्थरीतिसे करके वाचकोंके सामने रखा जाय। उससे स्वतंत्र रीतिसे आचार्यका भावार्थ समझकर और दूसरी बाजूका विचार जानकर आपका मत बना देवे।

आप शायद आगमदृष्टि रखते हो या उससे दृष्टि भिन्न रखते हो तो दूसरे मतवालोंका मत स्वतंत्र प्रकाशन करके लोगोंके सामने रखा जावे। किसीभी प्राचीन ग्रन्थका आशय उनके मतानुसार होना ही इष्ट है। इस लिये आपको यह प्रार्थना की जाती है।